॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

429

***

श्रीमच्छाङ्करभाष्यसंवलितम्

हस्तामलकीयम्

हिन्दीभाषानुवाद-तत्त्वदीपिकाख्यव्याख्या-संवलितम्

लेखक

सिद्धार्थकृष्ण

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2335263
ई-मेल : csp_naveen@yahoo.co.in

प्रथम संस्करण 2008
मूल्य : 150.00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 23286537

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए, बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 23856391

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष: 2420404

मुद्रक

ए. के. लिथोग्राफर, दिल्ली

समर्पण

ओङ्कारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ओङ्काराय नमो नमः ।।

यह पुस्तक समर्पित है परमपूज्य सद्गुरुदेव परमहंस स्वामी ओङ्कारानन्द सरस्वती जी महाराज के चरण कमलों में, जो वेदान्त दर्शन के महान् चिन्तक, मनीषी तथा विश्वप्रचारक हैं; जिनकी प्रेरणा तथा आध्यात्मिक परिपोषण के कारण ही मेरा वेदान्त चिन्तन संभव हो सका।

विषयानुक्रमणिका

विषय **पृष्ठसंख्या**

ॐ

श्रीमच्छंकराचार्यो विजयतेतराम्

पूर्वपीठिका

मानव सर्ग के प्रारम्भ में समस्त जीवमात्र के कल्याणार्थ आविर्भूत भगवान् वेद के चूडामणिभूत उपनिषदों में प्रतिपादित वेदान्त-दर्शन को निर्विवाद विश्व के सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक दर्शनों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। यह दर्शन अन्य दर्शनों के समान किसी एक चिन्तक, विचारक अथवा मत-प्रवर्तक की विचारधारा अथवा उस विचारधारा की विभिन्न तथा परस्परविरुद्ध व्याख्याओं पर आधारित नहीं है, अपितु सृष्टि के आदि से तपःपूत ब्रह्मर्षियों के अजस्र निदिध्यासनात्मक तप तथा तत्साध्य अपरोक्ष आत्मसाक्षात्कार के प्रत्यक्ष-अनुभवों का संकलन है, इसी कारण इसकी विशेषता अन्य दर्शनों से बढ़ जाती है। हमारी प्रागैतिहासिक संस्कृति, सर्वोन्नत आध्यात्मिक विचारधारा तथा विश्वव्यापी धर्म का तो यह प्राणों का प्राण है (प्राणस्य प्राणः); अतः हमारे लिये तो यही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। सर्वश्रेष्ठ प्रमाण की पदवी पर इन वैदिक ग्रन्थों की प्रतिष्ठापना किसी अन्धपरम्परा का परिणाम नहीं, अपितु ध्यानपूर्वक किये गये श्रवण के उपरान्त मनन द्वारा गूढतम तर्क की कसौटियों पर कसे जाने उपरान्त तथा उसके उपरान्त भी इन ग्रन्थों में प्रतिपादित तथ्यों का निदिध्यासन द्वारा अपरोक्ष अनुभव करने के उपरान्त ही हमारे पूर्वज विचारकों ने इनको अनवद्य प्रमाण के पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। इसके अतिरिक्त वर्तमान युग में भी निष्पक्ष विचारक, चाहें वे पौरस्त्य हों अथवा पाश्चात्य, इनको मानवीय मस्तिष्क के द्वारा अज्ञेय अथवा अनिर्वाच्य गूढतम तत्त्वों का अद्वय प्रतिपादक स्वीकार करते हैं। निश्चय ही इसमें प्रतिपादित तत्त्व ज्ञान का विषय नहीं वन सकते, क्योंकि ये स्वयं ज्ञान के विषयी हैं; अतः इस गूढ समस्या का एकमात्र निराकरण यही है कि स्वात्मभाव में अवस्थित होकर विषयित्वेन इनका अनुभव किया जाये, यही इनका वास्तविक साक्षात्कार है।

परन्तु यह अनुभव साधना की चरम अभिव्यक्ति है, पराकाष्ठा है। उससे पूर्व के साधनासम्वन्धी धरातल पर इन सत्यों को तार्किक पूर्वाग्रह से ग्रस्त मानवीय मस्तिष्क के लिये सैद्धान्तिक स्तर पर सुगम्य वनाने का प्रयत्न अनेकानेक दर्शनों तथा दार्शनिक आचार्यों की ओर से हुआ है, परन्तु इसमें सर्वाधिक साफल्य केवलाद्वैत सिद्धान्त तथा इसके आचार्यों

को प्राप्त हुआ है, इसमें भी निष्पक्ष पौरस्त्य तथा पाश्चात्य विचारक एकमत हैं। वस्तुतः यही सिद्धान्त श्रुतिसम्मत तथा श्रुतियों का सर्वाधिक सन्तोषजनक व्याख्यान करने में सक्षम है, इसमें सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि केवल इसी दर्शन की ओर से उपनिषदों के व्याख्यान का प्रयत्न हुआ है। अन्य आचार्यों ने अन्य दर्शनों का प्रणयन तो किया है, अपनी विचारधारा को सिद्ध करने के लिये अपनी इच्छा तथा आवश्यकता के अनुरूप श्रुतिवाक्यों को उद्धृत भी किया है, श्रौतदर्शन पर आधारित गीता-ब्रह्मसूत्रादि ग्रन्थों का व्याख्यान तक भी किया है; परन्तु किसी भी मान्य दार्शनिक आचार्य की ओर से उपनिषद् ग्रन्थों पर आद्योपान्त भाष्य नहीं लिखा गया। यह श्रेय एकमात्र भगवान् श्री शंकराचार्य को ही जाता है।

परन्तु केवलाद्वैतसिद्धान्त भगवान् श्री शंकराचार्य की कृति नहीं है। यह तो वैदिक काल से ही सम्प्रदायपरम्परा द्वारा चला आ रहा है। भगवत्पाद आचार्य को तो केवल आचार्य के मुखकमल से शिष्य के श्रोत्र की ओर जाने वाली इस सम्प्रदाय परम्परा को विद्वत्तापूर्ण तर्कसंगत विचारात्मक शैली में ग्रथित अथवा उपनिवद्ध करने का श्रेय प्राप्त है। वस्तुतः यह सिद्धान्त तो इतना ही पुराना है, जितना ऋग्वेद का यह मन्त्र–'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (इन्द्र अर्थात् आत्मा ही अपनी माया से अनेक-रूप धारण करता है। इन्द्र का अर्थ आत्मा होता है, इसमें अतिस्पष्ट प्रमाण आत्मा के लिये ज्ञेय विषयों को ले जाने वाले बाह्य-करणों के लिये प्रयुक्त होने वाला 'इन्द्रिय' शव्द है); अतः भिन्न भिन्न युगों में अनेकानेक साक्षात्कार सम्पन्न ऋषियों ने अपने-अपने शव्दों में इस ज्ञान को सरल अथवा गूढ भाषा में संकलित किया है। इनकी सूची में वैदिक तथा औपनिषद ऋषियों के अनन्तर भगवान् गौडपादाचार्य, भगवान् अष्टावक्र इत्यादि अनेक मनीषी आते हैं। इनमें से कुछ के नाम ज्ञात हैं, परन्तु कुछ के नाम उनके रूपों के समान काल के आवरण से आवृत हो चुके हैं। ऐसे ही किसी अज्ञातनामा ब्रह्म-विद्वान् की कृति आपके हाथों में रखा हुआ यह 'हस्तामलकीयम्' नामक ग्रन्थ हैं। मेरे विचार से किसी ग्रन्थ का मूल्यांकन उसके लेखक से नहीं, अपितु उसके प्रतिपाद्य तत्त्वों से करना चाहिये; क्योंकि लेखक का भी मूल्यांकन करने वाले वे तत्त्व ही होते हैं।

संज्ञा के आधार पर कुछ लोग इस ग्रन्थ का सम्वन्ध भगवान् श्री शंकराचार्य के चार शिष्यों में से एक भगवान् हस्तामलकाचार्य के साथ जोड़ते हैं। परन्तु हमारे विचार से यह

मत उपयुक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि संज्ञा के पीछे कारणान्तर ही अधिक वलवान् प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ अनेकानेक वेद-वेदान्तादि ग्रन्थों में प्रतिपादित दुर्ज्ञेय तत्त्व को कुछ ही श्लोकों के अन्तर्गत करतलगत आमलकफल के समान नितान्त स्पष्ट अनुभव-योग्य वना देता है, अथवा इस ग्रन्थ की रचना गूढतम तत्त्व का करतलगत आमलक के समान अपरोक्ष साक्षात्कार करने के उपरान्त हुई, यही इसके नामकरण के पीछे अधिक तर्कसंगत कारण प्रतीत होता है। अन्यथा अपने शिष्य की कृति के ऊपर आचार्य द्वारा भाष्य का प्रणयन बुद्धिसंगत नहीं प्रतीत होता। यह प्रथम अनुपपत्ति है। इसके अतिरिक्त स्वयं भाष्यकार ने ही इसके प्रणयिता का नाम न लेकर केवल प्रारम्भ में इतना ही कह दिया है–'तं प्रत्यात्मज्ञानमाचार्य उपदिशति'। यह केवल इसको किसी अज्ञातनामा पुरुष की कृति माने जाने पर ही युक्तियुक्त वैठ सकता है। पर्याप्त संभावना यह भी है कि भगवान् श्री शंकराचार्य ने अपने शिष्य का नाम इसी ग्रन्थ के आधार पर रखा हो।

वास्तव में भगवान् हस्तामलकाचार्य द्वारा विरचित ग्रन्थ 'हस्तामलकवार्तिकम्' नाम से प्रसिद्ध है, जो इस 'हस्तामलकीयम्' से सर्वथा भिन्न है। उसके अन्तर्गत भगवत्पाद जगद्गुरु श्रीमच्छंकराचार्य द्वारा परिचय पूछे जाने पर केवलाद्वैत वेदान्त की निगूढ भाषा में अपना पारमार्थिक परिचय दिया है, जिससे उनके अद्भुत आत्मसाक्षात्कार तथा वेदान्त-वाक्यों की

---

१. ॐ अथ हस्तामलकवार्तिकम् ॐ। अथ श्रीशङ्कराचार्यो बालं पप्रच्छ यत्नतः। कस्त्वं शिशो किमर्थं वा जडवद्वर्तसे वद।१। इति श्रुत्वा वचो भाष्यकारस्य मनसा शिशुः। तं स विज्ञाय सर्वज्ञं सर्वब्रह्मविदां वरम्। २। स्वानुभूतिवचांस्यद्धा वेदान्तार्थमयानि च। ब्रह्मैक्यनिष्ठान्यात्मज्ञः प्रोवाच गुणसागरः। ३। न वर्णो विप्राद्यो मयि न च जडत्वादिकलना जडोऽयं देहादिः प्रभवति मदाधारचलनः। अलिप्तोऽहं शुद्धो गगन इव मे वोधवपुषो धिया ब्रह्मानन्दे निरवधिमहिम्नो विहरणम्। ४। न भास्योऽहं बुद्ध्या सुदृगपि न वाचा न करणैर्मदायत्ताः सर्वे मतिवचनचक्षुःप्रभृतयः। अवेद्यस्याखण्डानुभववपुषो मेऽनवरतं धिया ब्रह्मानन्दे निरवधिमहिम्नो विहरणम्।५। गतौ धर्माधर्मौ लयमथ गतौ स्वर्गनरकौ गतौ रागद्वेषौ प्रविलयमुदारात्मवपुषः। गतौ भेदाभेदौ विगलितमहामोहतमसो मम स्वात्मानन्दे निरवधिमहिम्नो विहरणम्। ६। अविद्याकामादिः प्रभवति न यत्रात्मनि परे विवर्ता यस्यैते वियदनिलतेजोऽम्बववनयः। न संसारो यस्मिञ्जनिमृतिमयो दुःखनिबिडः स नित्यो बोधात्मा निरवधिरहं सौख्यजलधिः। ७। अहंकारातीतो विषयविरहः स्वात्मरसिको निराधारो ज्योतिर्भ्रमरचितसंबन्धरहितः। श्रुतीनां सिद्धान्तोऽपरिमितवपुः स्वानुभवतः स नित्यो बोधात्मा निरवधिरहं सौख्यजलधिः। ८। स्वतःशुद्धो बुद्धः समरसपरानन्दविततो धियां साक्षी वृत्तेः प्रलयमुदयं वेत्ति सततम्।

अपने जीवन में प्रत्यक्ष अनुभूति झलकती है। वह मात्र १५ श्लोकों का अतिसुन्दर प्रवन्ध है। इससे यही सिद्ध होता है कि भ्रमवशात् इन दोनों ग्रन्थों को एक मानकर तथा प्रस्तुत ग्रन्थ की संज्ञा के आधार पर कुछ लोग इसको भगवान् हस्तामलकाचार्य की कृति मान वैठते हैं।

ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि इस 'हस्तामलकीयम्' तथा 'हस्तामलकवार्तिकम्' में काफी समानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें कई विचार 'हस्तामलकीयम्' से ही लिये हुए हैं। कुछ श्लोकों के तो चतुर्थचरण में भी पर्याप्त अर्थगतसमानता देखने में आती है। मिलायें–'स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा' (हस्तामलकीयम्) तथा 'स नित्यो वोधात्मा निरवधिरहं सौख्यजलधिः' (हस्तामलकवार्तिकम्)। यह कहा जा सकता है कि 'हस्तामलकवार्तिकम्' हस्तामलकीयम् पर ही वार्तिक है। पर्याप्त संभवना है कि जब भगवान् हस्तामलकाचार्य ने भगवत्पाद जगद्गुरु श्रीमच्छंकराचार्य द्वारा परिचय पूछे जाने पर अपना परिचय 'हस्तामलकीयम्' नामक प्रसिद्ध सांप्रदायिक ग्रन्थ की भाषा में वताया हो, तो समस्त श्रुतियों तथा स्मृतियों के आलय भगवत्पाद जगद्गुरु श्रीमच्छंकराचार्य ने 'हस्तामलकीयम्' के तात्पर्यार्थ को स्वानुभूति की कसौटी पर कस कर अपने साक्षात्कार को इतनी प्रौढ भाषा में प्रस्तुत करने वाले उस दिव्य वालक को शिष्य वना कर उसका नाम 'हस्तामलकाचार्य' रखा हो। पीछे से हस्तामलकाचार्य द्वारा उपनिवद्ध होने के कारण अथवा 'हस्तामलकीयम्' के

क्रियां यः कर्तारं विषयमज आभासयति च स्वयंज्योतिः सोऽहं हृदयकमलार्कोऽस्मि सुखदः। ९। यथार्को नेत्राणां नभसि गत एकोऽपि वहुधा प्रकाशं संधत्ते युगपदयमात्माऽखिलधियाम्। हृदाकाशे स्थित्वा वपुषि धन एकोऽपि जगतां तथा भानं धत्ते स च सुखघनात्माऽहमजडः। १०। पुरा सृष्टेरेकः स्वयमकल आसीदनिमिषो न तेजो न ध्वान्तं गुणकृतकलाख्यादिरहितः। स्वशक्तिं मायाख्यामखिलजनिमाश्रित्य सहसा ससर्जेदं योऽसौ स च सुखघनात्माहमजडः। ११। प्रियो वित्तात्पुत्रादसुतनुमतिभ्यः प्रिय इति श्रुतेर्युक्तेः सिद्धो ह्यनुभववशात् सर्वजगताम्। असन्दिग्धो नित्यो दृगविषय आत्माऽचलवपुर्य आनन्दः सोऽहं निरवधिसमज्ञानजलधिः। १२। न दृश्यं नो द्रष्टा न च करणसाध्यं न विमतं न जीवो नोपाधिर्न च जनिमृती नैव च जरा। न सृष्टिर्नो स्रष्टा न च सुकृतपापे समुदिते चिदानन्दो यत्रानिशमिह ममाक्रीडनमलम्। १३। शिवाद्याः सर्वज्ञा निखिलमुनयो व्रह्मरसिका विराजन्ते यत्राचलनिजमहिम्नि स्वरसतः। परे भूमानन्दे समरसपदे तत्र सततं विशाला क्रीडा मे भवति सुरवन्द्याऽमृतमयी। १४। यमाहुर्वेदान्ताः परमपदमीशोऽपि वचनैरखण्डव्रह्माख्यं विधिमुखनिषेधैरविरतम्। स एवाहं वालो विधिहरिहरात्मातिविमलो निजानन्दक्रीडी विगतकलनो भ्रान्तिरहितः। १५। इति श्रीहस्तामलकवार्तिकं समाप्तम्। इत्यों शम्।

वार्तिक होने के कारण ही वे वचन 'हस्तामलकवार्तिकम्' के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

कुछ आधुनिक स्तोत्र संग्रहों में प्रस्तुत हस्तामलकीयम् के प्रथम श्लोक से पूर्व दो अन्य श्लोक भी देखने में आते हैं, जिनमें प्रथम श्लोक भगवत्पाद जगद्गुरु श्रीमच्छंकराचार्य का प्रश्न तथा द्वितीय श्लोक उनके प्रति भगवान् हस्तामलकाचार्य का उत्तर है [१]। दोनों श्लोक काफी प्रसिद्ध भी हैं। इस कारण भी इसके हस्तामलकाचार्य प्रणीत होने का भ्रम हो जाना स्वाभाविक है। वस्तुतः उन दोनों श्लोकों पर इस पुस्तक में प्रकाशित शाङ्करभाष्य उपलब्ध न होने से तथा प्रकाशित प्रामाणिक पुस्तकों में उपलब्ध न होने से यही सिद्ध होता है कि वे दोनों श्लोक पूर्णतः स्वतन्त्र हैं तथा 'हस्तामलकीयम्' के प्रारम्भ में उनका पाठ प्रक्षिप्त ही है। वास्तव में 'हस्तामलकीयम्' के साथ उनका पाठ इसके हस्तामलकविरचित होने के भ्रम के कारण ही है। ध्यान से विचारने पर उन दोनों श्लोकों का इस ग्रन्थ के श्लोकों के साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं जान पड़ता। वस्तुतः किसी केवलाद्वैतवादी परमवैष्णव द्वारा विरचित यह 'हस्तामलकीयम्' स्तोत्रग्रन्थ भगवान् विष्णु को ही संबोधित करके लिखा गया है–'तवापीह विष्णो!' (१२)। स्पष्ट ही यह आचार्य शङ्करभगवत्पाद तथा उनके शिष्य श्रीहस्तामलकाचार्य का संवाद नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकाशित भाष्य के प्रथम परिच्छेद को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ के भाष्यकार के लिये ये दोनों श्लोक अज्ञात हैं। स्पष्ट ही उन्होंने इस ग्रन्थ को 'तत्र यः कश्चित्पुण्यातिशय०' इत्यादि ग्रन्थ से संसारत्याग के लिये प्रयत्न करने वाले विरक्त जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा के परिणामस्वरूप किया जाने वाला आचार्यपाद का उपदेश ही स्वीकार किया है, न कि शिष्य हस्तामलक का अपने आचार्य श्रीमच्छङ्कराचार्य के प्रति आत्म-परिचय। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ किसी भी प्रकार भगवान् हस्तामलकाचार्य की कृति नहीं हो सकता।

जहाँ तक इस पर लिखित भगवत्पाद जगद्गुरु श्रीमच्छंकराचार्य के भाष्य की आधिकारिकता का प्रश्न है; इस पर हमारा यही विचार है कि यह अभी भी और अधिक गहन शोध तथा अनुसन्धान का विषय है तथा इस पर अभी शीघ्रता में कोई भी निर्णय प्रस्तुत करना

---

१. कस्त्वं शिशो कस्य कुतोऽसि गन्ता किं नाम ते त्वं कुत आगतोऽसि। एतन्मयोक्तं वद चार्भक त्वं मत्प्रीतये प्रीतिविवर्धनोऽसि। १। नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः। न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थः भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः। २।

ग्रन्थ के साथ अन्याय ही होगा। तथापि लोकप्रसिद्धि के आधार पर तथा ग्रन्थ की पाण्डुलिपियों में दृश्यमान पुष्पिकाओं के आधार पर तो इस भाष्यग्रन्थ के रचयिता गोविन्दभगवत्पूज्यपाद के शिष्य भगवान् शंकराचार्य ही माने जाते हैं; इसी कारण इसको मद्रास से प्रकाशित शांकरग्रन्थावलि के अन्तर्गत भी लघुभाष्यात्मक चतुर्थ खण्ड के अन्तर्गत मनीषी सम्पादकों ने संकलित किया है। यहाँ पुनः यही बात याद करनी चाहिये कि किसी ग्रन्थ की उपादेयता उसके रचयिता से अधिक उसमें प्रतिपादित तत्त्वों पर निर्भर करती है। प्रस्तुत भाष्य में किया गया आत्मा की बोधस्वरूपता (२ श्लोक) तथा जीवन्मुक्ति विषयक (६ श्लोक) स्पष्टीकरण निश्चय ही अद्वितीय पाण्डित्य से परिपूर्ण है तथा जिज्ञासुओं की कई शंकाओं को शान्त कर देने में पूर्ण सक्षम है, अतः यह भाष्य सर्वथा उपादेय है, इसमें शंका के लिये कोई स्थान नहीं है। फिर भी हमने इस भाष्य-ग्रन्थ की आधिकारिकता के सम्बन्ध में कुछ विचार तथा समालोचन करने का प्रयत्न किया है, जो यद्यपि निर्णायक तो नहीं कहा जा सकता, तथापि आगे किये जाने वाले निर्णायक प्रयत्नों के लिये यह लघु प्रयत्न अवश्य ही एक धरातल अथवा भूमिका का निर्माण करने में सक्षम होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

(भाष्य-समालोचन)

यहाँ द्वितीय श्लोक के भाष्य के अन्तर्गत दो वाक्य विशेष विचारणीय हैं–

१. न तावत्संयोगः, तस्य द्रव्यमात्रधर्मत्वात्, अद्रव्यत्वाच्चैतन्यस्य। तथा–

२. नित्यश्च आत्मा, सदकारणवत्त्वात् परमाणुवत्।

दोनों ही वाक्य सिद्धान्ती द्वारा कथित हैं।

पहला वाक्य संभावित संयोग सम्बन्ध के आश्रय रूप से विद्यमान आत्मा तथा चैतन्य में से चैतन्य की द्रव्यता का निराकरण करके परिशेषन्याय से आत्मा के द्रव्यत्व को नैयायिकों के समान स्वीकार करके संयोग सम्बन्ध की संभावना का निराकरण करता है, जबकि वेदान्त-दर्शन के अनुसार आत्मा में 'गुणाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्' द्रव्यत्व का यह सामान्य लक्षण ही नहीं घट सकता, क्योंकि आत्मा का गुणाश्रयत्व मानने पर निर्गुणत्व का प्रतिपादन करने वाली ('साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि अनेकानेक) श्रुतियों के साथ विरोध आयेगा। यद्यपि नैयायिक उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न द्रव्य में अव्याप्ति का वारण करने के लिये 'गुणाश्रयत्व' का अर्थ 'गुणात्यन्ताभावानधिकरणत्व' करते हैं, तथापि आत्मा तो वेदान्तियों के

अनुसार नैयायिकों की भाषा में 'गुणात्यन्ताभावाधिकरण' है, क्योंकि समस्त गुणों के अविद्याकल्पित भ्रान्त होने के कारण परमार्थतः उनका शुक्तिका में प्रतीयमान रजत के समान आत्यन्तिक अभाव ही है। चैतन्यत्व-नित्यत्व आदि को भी आत्मा के आश्रित नहीं, अपितु आत्मा का स्वरूप ही माना गया है।

तो क्या प्रस्तुत ग्रन्थकार आत्मा को नैयायिकों के समान द्रव्य स्वीकार कर रहे हैं?

इसी प्रकार द्वितीय वाक्य आत्मा के नित्यत्व की सिद्धि करने के लिये सत्ता तथा कारणराहित्य को हेतु वनाने के उपरान्त परमाणु को दृष्टान्त वनाता है। नैयायिकों के मतानुसार परमाणु सत् भी है तथा कारण से रहित भी है, अतः वह जिस प्रकार नित्य है, उसी प्रकार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'यदन्यद्देवेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च तत्सत्' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार सत् तथा 'न चास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः' 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार कारण से रहित है, यह भाव है। जवकि वेदान्त दर्शन में परमाणु के अस्तित्व का निराकरण स्वयं भाष्यकार आदि ने परमाणु-जगदकारणत्वाधिकरण आदि स्थलों पर किया है, पुनः श्रौतसिद्धान्त में कारण से रहित भी ब्रह्म के अतिरिक्त किसी को नहीं माना जाता, इसी प्रकार निरपेक्ष नित्यत्व भी केवल ब्रह्म का ही माना जाता है।

दृष्टान्त उसी को वनाया जाता है, जो उभयवादिसम्मत हो। अतः भगवान् गौतम ने कहा है—'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः' (लौकिकों तथा परीक्षकों की बुद्धि जिस पदार्थ को लेकर समान हो, वह दृष्टान्त होता है; न्या०द० १-१-२५)।

तो क्या प्रस्तुत ग्रन्थकार परमाणुवाद को स्वीकार कर रहे हैं?

वस्तुतः इन दोनों ही शंकाओं का समाधान अभ्युपगमवाद के आधार पर कर लेना चाहिये, अर्थात् यद्यपि स्वयं भाष्यकार इन सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करते, तथापि जिनके साथ उनका विवाद चल रहा है, उन नैयायिकों को समझाने के लिये थोड़ी देर के लिये उनके सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते हैं।

ग्रन्थकार स्पष्टतः प्राचीन नैयायिकों के सिद्धान्तों से अधिक परिचित प्रतीत होते हैं, इसीलिये वे 'अविघ्नेन परिसमाप्तेः' (१) इत्यादि वाक्य द्वारा मंगलाचरण के विषय में प्राचीन नैयायिकों के ही मत को स्वीकार कर रहे हैं, जो विघ्नध्वंसपूर्वक समाप्ति को मंगल का फल मानते हैं। नव्य नैयायिकों के अनुसार तो केवल विघ्नध्वंस ही मंगलाचरण का फल है।

इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि प्रस्तुत भाष्यकार कम से कम नव्य नैयायिकों से तो प्राचीन ही हैं।

प्रस्तुत भाष्य को भगवान् शंकराचार्य की रचना न मानने वालों की ओर से पुनः शंका हो सकती है कि षष्ठ श्लोक भाष्य के अन्तर्गत 'प्रथमज्ञानादेव मुक्तेः' इत्यादि ग्रन्थ द्वारा प्रथमज्ञान से ही मुक्ति हो जाना स्वीकार किया है, जवकि केनोपनिषद् पदभाष्य २-४ के अन्तर्गत (जो निर्विवादरूप से आचार्य की ही कृति है) "सकृद्विज्ञानं प्रतिवोध इत्यपरे" इस वाक्य द्वारा प्रथम ज्ञान को ही प्रतिवोध अर्थात् मोक्षकारक मानने वालों को 'अपरे' कहा है तथा भाष्यकार ने स्वयं "सकृद्वाऽसकृद्वा प्रतिवोध एव हि सः" इत्यादि वाक्य द्वारा दोनों पक्षों को ही, अर्थात् अनेक वार जायमान ज्ञान को भी प्रतिवोध तथा मोक्षकारक स्वीकार किया है। पुनः यहाँ पर 'प्रथमज्ञानादेव' इस अवधारण का क्या औचित्य रह जाता है? फिर भाष्यकार के हृदय को समझने वाले आचार्य आनन्दगिरि ने तो वहाँ पर इस पक्ष का खण्डन तक कर दिया है। ऐसी स्थिति में क्या प्रस्तुत भाष्यग्रन्थ को भगवान् शंकराचार्य की रचना मानना उचित है? वस्तुतः दोनों के अन्तर्गत विरोध की प्रतीत होने पर भी विरोध नहीं है, इसका विस्तार से स्पष्टीकरण हमने षष्ठ-श्लोक-भाष्य-व्याख्यानावसर पर कर दिया है, पाठक वहीं पर देख लें।

इसी प्रकार प्रारब्धादि के विचार को लेकर भी यह भाष्यकार अपरोक्षानुभूतिकार की अपेक्षाकृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य-कार के अधिक समीप बैठते हैं।

तथापि षष्ठश्लोक के भाष्यकारकृत व्याख्यान सन्तोषजनक नहीं है, अन्वयादि को लेकर भी पर्याप्त अस्पष्टता प्रतीत होती है, इस वात को लेकर अपने मत का स्पष्टीकरण भी हमने वहीं पर कर दिया है, पुनः यहाँ विचार अनावश्यक है। परन्तु यह लिपिकारों के दोष का भी परिणाम हो सकता है।

इस प्रकार हमें तो इस भाष्य-ग्रन्थ को भगवान् शंकराचार्य की रचना मानने में कोई आपत्ति नहीं है। तथापि विशेषनिर्धारण के लिये विशेष शोध आवश्यक है।

(अनुवाद तथा व्याख्यान के विषय में दो शब्द)

'हस्तामलकीयम्' मुझे बहुत प्रारम्भ से ही बहुत अच्छा लगता था। वेदान्त के गूढतम सिद्धान्तों का जिस सरलतम तथा संक्षिप्ततम रीति से प्रतिपादन इस ग्रन्थ में हुआ

होगा, इतना शायद ही किसी अन्य ग्रन्थ के अन्तर्गत किया गया हो। अतः स्वाभाविक रूप से उपनिषद्रहस्य के इस अभूतपूर्व की लोगों के वीच में भी प्रसिद्धि हो, ऐसी इच्छा होती रही। पुनः कुछ मित्रों के सामने अपना विचार रखने पर उन्होंने भी प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रति अपने आदर तथा प्रेम के भाव व्यक्त किये तथा मुझे इस पर लिखने के लिये उत्साहित करते रहे, जिसके परिणामस्वरूप यह लघुनिवन्ध आपके हाथों में विद्यमान हैं।

हमने अनुवाद को यथासंभव शव्दशः रखने का प्रयास किया है, साथ ही यह भी पूरा पूरा ध्यान रखा है कि ग्रन्थकार के भाव की हानि न हो। जहाँ हमें ग्रन्थकार का भाव अतिगूढ तथा अतिविस्तृत लगा, वहाँ पर अनुवाद में उस गूढ भाव को प्रस्तुत करने में अपने आप को सर्वथा असमर्थ पाते हुए हमने अतिरिक्त व्याख्यान के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। कदाचित् संभव है कि मूल के व्याख्यान में तथा भाष्य के व्याख्यान में पुनरुक्ति हो गयी हो, उसके लिये हम विद्वानों के क्षमाप्रार्थी हैं, हमारा उद्देश्य प्रसङ्ग को और अधिक स्पष्ट करना मात्र ही है। इसके अतिरिक्त एक विषय का और ध्यान रखा गया है कि कहीं-कहीं पर हमें अनुक्त होने पर भी भाष्यकार के वाक्यों में अवधारण की प्रतीति होती थी, तो हमने 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इस न्याय के आधार पर व्याख्यान में अपनी ओर से अवधारण लगा दिया है, वह भी वस्तुतः पाठक के स्पष्टार्थ ही है। यदि अनुवाद-व्याख्यान तथा प्रकाशन में कोई दोष रह गया हो, तो हम आशा करते हैं कि विद्वत्सुधीजन हमें अल्पवयस्कीय वालक जान कर क्षमा करेंगे तथा अपनी सुविधा के अनुसार हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित करेंगे जिससे आगे के संस्करणों में उन दोषों का परिमार्जन संभव हो सके। इत्यों शम्।

विद्वद्वशंवदः भावत्कः
सिद्धार्थकृष्णः 'विश्वमित्रः'

वैशाखी, २०५८
ओङ्कारानन्द श्री कृष्ण कुटीर,
हृषीकेश, उत्तराञ्चल

ॐ श्रीमच्छङ्कराचार्यो विजयतेतराम् ॐ

श्रीमच्छाङ्करभाष्यसंवलितम्

हस्तामलकीयम्

तत्त्वदीपिकाख्य-हिन्दीव्याख्योपेतम्

ॐ अथ हस्तामलकीयम् ॐ

निमित्तं मनश्चक्षुरादिप्रवृत्तौ निरस्ताखिलोपाधिराकाशकल्पः।
रविर्लोकचेष्टानिमित्तं यथा यः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा। १।

ॐ अथ तत्त्वदीपिका ॐ

नत्वोपदेशकं देवं भाष्यकारं च शङ्करम्।
सिद्धार्थकृष्णाविदुषा क्रियते तत्त्वदीपिका।।

(आत्म-तत्त्व का स्वरूप)

जिस प्रकार सूर्य जगत् की चेष्टा में निमित्त है, (उसी प्रकार) जो मन तथा चक्षु आदि (करणों) की प्रवृत्ति में निमित्त है, जो समस्त उपाधियों से रहित है, जो आकाश के समान (अत्यन्त शुद्ध अथवा सर्वव्यापक) है, वह नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ। १।

प्रातःकाल होते ही सूर्योदय हो जाने पर यह सम्पूर्ण जगत्, जो इससे पूर्व निःस्पन्दावस्था में

ॐ अथ हस्तामलकीय-शाङ्करभाष्यम् ॐ

यस्मिन्ज्ञाते भवेत्सर्वं विज्ञातं परमात्मनि।
तं वन्दे नित्यविज्ञानमानन्दमजमव्ययम्। १।

ॐ अथ ॐ

जिस परमात्मा के ज्ञात हो जाने पर सब कुछ विज्ञात हो जाता है; उस नित्यविज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, अजन्मा तथा अव्यय (परमात्मा) को मैं नमस्कार करता हूँ।

किसी भी ग्रन्थ को प्रारम्भ करने से पूर्व विघ्नादि अनिष्टों के परिहार के लिये मङ्गलाचरण किया

विद्यमान था, चेष्टा करने लगता है; अतः सूर्य सम्पूर्ण जगत् की चेष्टा में निमित्त बन जाता है। जिस अर्थ में सूर्य को सम्पूर्ण जगत् का प्रवर्तक अथवा प्रेरक कहा जाता है, उसी अर्थ में यह आत्मतत्त्व समस्त करणों का अपने-अपने विषयों में प्रवर्तक है। अपनी अवस्थितिमात्र से ही वह इन सबको प्रवृत्त करता रहता है। अतः "केनेषितं पतति प्रेषितं मनः" (किसकी इच्छामात्र से प्रेरित होकर मन अपने विषयों में जाता है, के० १-१) इस प्रकार शिष्य के पूछे जाने पर आचार्यवर ने उसे आत्मतत्त्व का ही उपदेश किया है। यह आत्मतत्त्व अपने पारमार्थिक स्वरूप में समस्त उपाधियों से रहित होता है, क्योंकि समस्त उपाधियाँ वस्तुतः अविद्या-परिकल्पित ही हैं। अतः श्रुतियाँ उसको आकाश के समान शुद्ध तथा सर्वव्यापक बतलाती हैं—"शुद्धमपापविद्धम्" (वह शुद्ध तथा पाप से अस्पृष्ट है; ई० ८) "आकाशवत्सर्वगतः" (वह परमात्मा आकाश के समान सर्वव्यापक है)। इस प्रकार मुमुक्षु को देह में आत्माध्यास समाप्त कर देहादि समस्त उपाधिओं से अतीत आत्मतत्त्व का ही अनुसन्धान करना चाहिये।

जाता है, ऐसी सम्प्रदायागत रीति है। अतः शिष्ट-जनों द्वारा निर्धारित इस परम्परा का अनुपालन करते हुए सम्प्रदायज्ञों में श्रेष्ठ भगवान् भाष्यकार ग्रन्थ के आरम्भ में समस्त उपनिषदों के एकमात्र प्रतिपाद्य, जिसके ज्ञानमात्र से समस्त किल्बिष दग्ध हो जाते हैं, उस परममङ्गलस्वरूप परब्रह्म-परमात्मतत्त्व का अनुस्मरण कर रहे हैं।

एक कारणतत्त्व को जान लेने पर चित्र-विचित्र कार्यों का ज्ञान स्वतः हो जाता है, यह नियम है। जिस प्रकार एक मृत्पिण्ड का ज्ञान हो जाने पर समस्त मृत्तिकामय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, इसी प्रकार समस्त जगत् के कारणतत्त्व परमात्मा का ज्ञान हो जाने पर ब्रह्मज्ञ पुरुष सर्वज्ञ हो जाता है, उसको समस्त कार्यतत्त्व का ज्ञान हो जाता है, कुछ भी अविज्ञात नहीं रहता है। अतः छान्दोग्योपनिषद् में महर्षि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश करते हुए कहते हैं—"येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति...यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्" (जिस परमात्मविषयक उपदेश द्वारा अश्रुत पदार्थ भी श्रुत हो जाता है, अतर्कित पदार्थ भी तर्कित हो जाता है तथा अज्ञात पदार्थ भी ज्ञात हो जाता है, हे सौम्य! जिस प्रकार एक मृत्पिण्ड के ज्ञात हो जाने पर समस्त मृन्मय पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं; ६-१-३)। यही कारण है कि जिस समय महर्षि शौनक ने महर्षि अथर्वा आङ्गिरस से यह प्रश्न पूछा—"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" (हे भगवन्! किसके विज्ञात हो जाने पर यह सब कुछ विज्ञात हो जाता है? मु० १-१-२); तो इसके उत्तर में ब्रह्मर्षि ने उन्हें परमात्मतत्त्व का ही उपदेश दिया।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप तथा अनन्त है; तै० २-१) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (प्रज्ञान ही ब्रह्म है; ऐ० ३-१-३) "प्रज्ञानघन एवानन्दमयः" (वह प्रज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप है; मा० ५) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (ब्रह्म विज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप है; बृ० ३-९-२८) "आनन्दो ब्रह्म" (आनन्द ही ब्रह्म है; तै० ३-५) इत्यादि श्रुतियाँ उसे ज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप बतला रही हैं। एवं "अज आत्मा" (आत्मा अजन्मा है; बृ० ४-४-२०) "अजो नित्यः" (वह अजन्मा तथा नित्य है; का० १-२-१८) इत्यादि श्रुतियाँ उसको अजन्मा तथा "अव्ययम्" (वह अव्यय है; का० १-३-१५) "स नो दधातु ब्रह्माव्ययम्" (वह अव्यय ब्रह्म हमें धारण करे; श्वे० ६-१०) इत्यादि श्रुतियाँ उसे अव्यय बतलाती हैं।

यदज्ञानादभूद् द्वैतं ज्ञाते यस्मिन्निवर्तते। रज्जुसर्पवदत्यन्तं तं वन्दे पुरुषोत्तमम्। २।

यस्योपदेशदीधित्या चिदात्मा नः प्रकाशते।

नमः सद्गुरवे तस्मै स्वाविद्याध्वान्तध्वंसिने। ३।

जिस (परमात्मा) के अज्ञान से इस द्वैतमय जगत् की उत्पत्ति हुई, तथा जिसके ज्ञात हो जाने पर रज्जु में सर्प के समान (यह द्वैतमय जगत्) अत्यन्त निवृत्त हो जाता है, उस पुरुषोत्तम की मैं वन्दना करता हूँ। २।

जिस प्रकार रज्जु का अज्ञान होने के कारण उसमें सर्प भासने लगता है तथा रज्जु का भान होते ही उसमें सर्प के अध्यास की निवृत्ति हो जाती है, इसी प्रकार परमात्मा के अज्ञान से ही यह जगत् उत्पन्न-सा होकर भासने लगता है—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (ब्रह्म अपनी मायाओं से इस जगत् में अनन्तरूप वाला हो जाता है। अविद्या ही माया है), परन्तु उस जगत् का ब्रह्मज्ञान होते ही विलय हो जाता है। ईशावास्योपनिषद् कहती है—"यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (जिस सर्वात्मभाव की अवस्था में अवस्थित हो जाने पर समस्त भूत-प्राणी उस ज्ञानी की आत्मा ही बन जाते हैं, तो सम्पूर्ण जगत् में एकत्व को देखने वाले उस ज्ञानी को क्या तो मोह होगा? तथा क्या शोक होगा? ई० ७)। इस श्रुति में स्पष्ट ही ज्ञानी के लिये शोक-मोहात्मक संसार की निवृत्ति वतलायी गयी है। जगत् की अत्यन्त निवृत्ति का तात्पर्य है उसकी कारणसहित निवृत्ति। जगत् का कारण अविद्या है। यदि जगत् की निवृत्ति हो भी जाती है, परन्तु उसका कारण अज्ञान रहा आता है, तो कारण के विद्यमान रहने से कार्यभूत जगत् की निवृत्ति हो जाने के उपरान्त भी पुनः उस जगत् की उत्पत्ति हो सकती है। परन्तु ब्रह्मज्ञान से तो जगत् के कारण अज्ञान की ही निवृत्ति हो जाती है, वह मूल से ही उखड़ जाता है, पुनरुत्पत्ति की शङ्का ही नहीं रहती, अतः ज्ञान से जगत् की अत्यन्त निवृत्ति बतलायी गयी है। पुरुषोत्तम विशेषण द्वारा भगवान् भाष्यकार उसे जीव तथा माया से अतीत बतला रहे हैं, क्योंकि भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं—"यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" (क्योंकि मैं क्षरणशील जगत् या जीव से अतीत हूँ तथा अक्षर अर्थात् अव्यक्त माया से भी उत्तम हूँ, अतः मैं लोक तथा वेद में पुरुषोत्तम इस नाम से प्रसिद्ध हूँ; गी० १५-१८)।

जिनके उपदेश की किरण से चैतन्य आत्मा हमारे लिये प्रकाशित होने लगा, आत्मविषयक अज्ञानरूप अन्धकार के लिये सूर्य के समान उन सद्गुरु को मैं नमन करता हूँ। ३।

भगवान् भाष्यकार इस मङ्गलाचरण द्वारा शिष्य को शिक्षा दे रहे हैं कि जितनी श्रद्धा ईश्वर में है, उतनी ही श्रद्धा गुरु में भी होनी चाहिये, तभी जाकर शिष्य के चित्त में ये औपनिषद गूढ रहस्य पूर्णरूपेण प्रकाशित हो सकेंगे—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" (जिस की ईश्वर में परम भक्ति होती है; तथा जिस प्रकार की ईश्वर में, उसी प्रकार की गुरु में भी होती है; महात्मा जन उसके लिये ही इन उपनिषदों में कथित अर्थों का प्रकाशन करते हैं; श्वे० ६-२३); "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्" (श्रद्धावान् पुरुष ही ज्ञान प्राप्त करता है; गी० ४-३९)।

इह हि सर्वस्य जन्तोः 'सुखं मे भूयाद्दुःखं मे मा भूयाद्' इति स्वरसत एव सुखोपादित्सादुःखजिहासे भवतः। तत्र यः कश्चित्पुण्यातिशयशाली अवश्यंभाविदुःखाविनाभूतत्वादनित्यत्वाच्च विषयजं सुखं दुःखमेवेति ज्ञात्वा यत्नेन ससाधनात्संसारात्त्यक्तासक्तिरत्यन्तं विरज्यते। विरक्तश्च संसारहानौ यतते। संसारस्य चात्मस्वरूपापरिज्ञानकृतत्वादात्मज्ञानान्निवृत्तिरिति तं प्रत्यात्मज्ञानमाचार्य उपदिशति–

यहाँ (इस संसार में) निश्चय ही सब जीवों के अन्तर्गत "मुझे सुख मिले, मुझे दुःख न मिले" इस प्रकार की सुख को प्राप्त करने की इच्छा तथा दुःख को त्यागने की इच्छा स्वभावतः ही होती है। उनमें से जो कोई अत्यधिक पुण्यवान् (पुरुष) विषय से उत्पन्न होने वाले सुख को अवश्यंभावी दुःख से सम्बद्ध होने के कारण तथा अनित्य होने के कारण "यह दुःख ही है" इस प्रकार जान कर (काम-क्रोधादि) साधनों के सहित इस संसार में आसक्ति का त्याग करके प्रयत्न द्वारा अत्यन्त विरक्त हो जाता है तथा विरक्त होकर संसार को त्यागने का प्रयत्न करता है। उसके प्रति 'आत्म-स्वरूप के अज्ञान के द्वारा उत्पन्न होने के कारण संसार की निवृत्ति आत्मज्ञान से ही हो सकती है' ऐसा जानकर आचार्य आत्मज्ञान का उपदेश करते हैं–

वास्तव में मुमुक्षा प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्गत विद्यमान है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति सुख-प्राप्ति तथा दुःख-परिहार का इच्छुक है, इस इच्छा की उत्पत्ति के लिये किसी शास्त्र अथवा आचार्य के उपदेश की आवश्यकता नहीं है। परन्तु अधिकतर लोगों को सुख के मूल का ज्ञान न होने के कारण वे सुख बाह्य पदार्थों में ढूँढते रहते हैं, जबकि सुख वस्तुतः आनन्द-स्वरूप अन्तरात्मा में विद्यमान है। यदि बाह्यपदार्थों में सुख यदाकदाचित् यत्किञ्चिन्मात्र उपलब्ध होता भी है, तो वह वस्तुतः अन्तरात्मा से ही आता है, परन्तु अज्ञानी जीव यही समझता रहता है कि यह आनन्द इस सम्मुखस्थ विषयविशेष में है; जिस प्रकार कूकर अस्थि खाते समय समझता है कि अस्थि में से रक्त निकल रहा है, यद्यपि वास्तविकता यह है कि वह रुधिर उस अस्थि में से नहीं, अपितु उसके जबड़ों में से निकल रहा होता है, पर अज्ञानवशात् वह इस बात को जानता नहीं है तथा अस्थि के भ्रम में अपने ही रुधिर का आस्वादन कर अपने स्वास्थ्य की हानि करता है। श्रुति भगवती भी यही कहती है–"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (अन्य भूत-प्राणी इसी आत्मानन्द की एक छोटी सी मात्रा को लेकर ही जीवित रहे आते हैं, बृहदारण्यको० ४-३-३३)। सोचने वाली बात है कि यदि विषय में वास्तविक सुख होता, तो सर्वदा ही उस विषय से सुख मिलना चाहिये, परन्तु ऐसा देखने में आता है कि कुछ समय तक किसी विषयविशेष का उपभोग करने लेने के उपरान्त उस विषय से तृप्ति हो जाती है तथा कई बार यहाँ तक होता है कि वही विषय काटने के लिये दौड़ता है। परन्तु अज्ञानी-अविवेकी पुरुष इन सब बातों का विचार नहीं करता, अतः वह श्रेयमार्ग (कल्याणकर अध्यात्ममार्ग) को छोड़ कर प्रेय (प्रिय अर्थात् संसार के मार्ग) का वरण कर बैठता है– "श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते" (बुद्धिमान अर्थात् विवेक करने में सक्षम

निमित्तमिति। ननु सर्वत्र ग्रन्थादौ शिष्टानामिष्टदेवतास्तुतिनमस्कारपूर्विका प्रवृत्तिरुपलब्धा; अयं च विना स्तुतिनमस्कारौ प्रवर्तमानोऽशिष्टत्वादनादरणीयवचनः प्रसज्येतेति चेत्? न, स्तुतिनमस्कारयोस्त्रैविध्यात्। त्रिविधौ हि स्तुतिनमस्कारौ– कायिकौ, वाचिकौ, मानसिकौ चेति। तत्र कायिकवाचिकयोरभावेऽपि परमशिष्टत्वादाचार्यस्य ग्रन्थस्याविघ्नेन परिसमाप्तेश्च मानसिकौ स्तुतिनमस्कारावकरोदयमाचार्य इत्यवगम्यते। यत्किञ्चिदेतत्, प्रकृतमनुसरामः।

मनश्च चक्षुश्च मनश्चक्षुषी, ते आदिर्येषां तानि मनश्चक्षुरादीनि। आदिशब्दः

पुरुष प्रेय के स्थान पर श्रेय का ही वरण करता है, जबकि मन्द अर्थात् उचितानुचित का विवेक करने में अक्षम पुरुष अपने योग-क्षेम के लिये प्रेय का ही वरण कर बैठता है; काठको० १-२-२)। अतः जिसके अन्तर्गत पूर्वजन्मों के संचित सुकृत के कारण विवेक करने की योग्यता रहती है, वह पुरुष सांसारिक सुख को अनित्य-क्षणिक होने के कारण तथा परिणाम में अनेकानेक दुःख तथा पीड़ाओं से युक्त होने के कारण दुःख के समान त्याग देता है तथा इस संसार की सकारण आत्यन्तिक निवृत्ति करने के लिये आत्मज्ञान की प्राप्ति का अभ्यास करता है तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति का अभ्यास करने के लिये किसी आचार्य के पास जाता है तथा वे उसे अधिकारी देखकर उपदेश देते हैं, जिस उपदेश का अपरोक्षसाक्षात्कार करके वह जन्म-मरण के इस दुःखमय चक्र से सर्वथा छूट जाता है।

पूर्वपक्ष–सर्वत्र ग्रन्थ के आदि में इष्टदेवता की स्तुति तथा नमस्कार करके ही शिष्टजनों की (ग्रन्थरचना में) प्रवृत्ति देखने में आती है; जबकि स्तुति-नमस्कार आदि के बिना ही (ग्रन्थ की रचना में) प्रवृत्त होता हुआ यह (ग्रन्थ-रचयिता) अशिष्ट होने के कारण अनादरणीय वचनों वाला होने लगेगा, यदि ऐसा कहा जाये तो?

सिद्धान्तपक्ष–ऐसा नहीं है; क्योंकि स्तुति तथा नमस्कार तीन प्रकार के होते हैं। निश्चय ही स्तुति तथा नमस्कार तीन प्रकार के होते हैं–१. कायिक (शरीर द्वारा), २. वाचिक (वाणी द्वारा) तथा ३. मानसिक (मन द्वारा)। उनमें से यद्यपि (इस ग्रन्थ में) कायिक तथा वाचिक (स्तुति-नमस्कार) का अभाव है, तथापि आचार्य के परमशिष्ट होने के कारण तथा ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति दीखने के कारण इन आचार्य ने मानसिक स्तुति-नमस्कार किया होगा, ऐसा अवगत होता है। जो कुछ भी हो, प्रकृत (जिस विषय को लेकर प्रकरण प्रारम्भ किया गया था, उसे 'प्रकृत' कहते हैं) का अनुसरण करते हैं।

मन तथा चक्षु 'मनश्चक्षुषी' कहलाते हैं। वे दोनों आदि में हैं जिनके, वे 'मनश्चक्षुरादि' कहलाते हैं। ("द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बन्ध्यते" द्वन्द्वसमास के अन्त में सुना

प्रत्येकमभिसंबध्यते। ततश्चायमर्थो भवति–मनआदीनां मनोऽहङ्कारबुद्धिचित्तानां चतुर्णामन्तःकरणानाम्; तथा चक्षुरादीनां चक्षुस्त्वक्श्रोत्रजिह्वाघ्राणानां पञ्चबुद्धीन्द्रियाणाम्, एवं वाक्पाणिपादपायूपस्थानां पञ्चकर्मेन्द्रियाणां प्रवृत्तौ स्वस्वव्यापारे निमित्तं हेतुर्यः, सोऽहमात्मेति सम्बन्धः।

स कीदृशः? इत्याकांक्षायामाह–नित्योपलब्धिरिति। नित्या चासावुपलब्धिश्चेति नित्योपलब्धिः, सा स्वरूपं यस्य स तथोक्तः।

गया पद प्रत्येक पद के साथ सम्बद्ध होता है; इस व्याकरण-नियम के आधार पर) आदिशब्द का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ है ('मन आदि, चक्षु आदि' इस रीति से)। उससे यह अर्थ निकलता है–मन आदि की अर्थात् मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, इन चार अन्तःकरणों की; तथा चक्षु आदि की अर्थात् चक्षु, त्वचा, श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण, इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों की; तथा वाणी, हाथ, पैर, पायू, उपस्थ, इन पाँच कर्मेन्द्रियों की; (इनकी) प्रवृत्ति में अर्थात् अपने-अपने व्यापार में जो निमित्त अर्थात् हेतु है, वह आत्मा मैं हूँ; ऐसा आगे के साथ सम्बन्ध बैठाना चाहिये।

किसी समय एक शिष्य ने अपने आचार्य से प्रश्न पूछा–"किसकी इच्छामात्र से प्रेरित हुआ यह मन अपने विषयों में भागता रहता है... किससे प्रेरित हुए जीव इस वाणी को बोलते हैं तथा चक्षु एवं श्रोत्र को प्रेरित करने वाला देव कौन है?" (केनो० १-१)। (यहाँ ध्यान रखें कि वाणी द्वारा समस्त कर्मेन्द्रियों का तथा चक्षुः-श्रोत्र द्वारा समस्त ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण कर लेना चाहिये)। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं–"वह श्रोत्र का भी श्रोत्र (अर्थात् श्रोत्र की भी श्रवणशक्ति अर्थात् श्रोत्र का भी प्रेरक; इसी प्रकार आगे भी समझें), मन का भी मन, वाणी की भी वाणी, प्राण का भी प्राण तथा चक्षु का भी चक्षु है, उसको जानकर बुद्धिमान पुरुष श्रोत्रादि करणों में आत्मभाव को छोड़ कर तथा इस लोक से ऊपर उठ कर अमृत हो जाते हैं" (केनो० १-२)। इन उपनिषद् के मन्त्रों में जिस आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है, उसी का विस्तृत अनुवादात्मक-विवेचन ग्रन्थकार यहाँ भी प्रस्तुत करने जा रहे हैं। कई लोग बुद्धि, मन अथवा इन्द्रियों को ही आत्मा समझ बैठते हैं, उनके इस अज्ञान की निवृत्ति के लिये यहाँ पर इनसे भिन्न इनके अधिष्ठाता को आत्मा बतलाया है।

वह किस प्रकार का है? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं–नित्य उपलब्धि को "नित्योपलब्धि" कहा गया है, वह है स्वरूप जिसका, वह 'नित्योपलब्धिस्वरूप' है।

तार्किक "ज्ञानाधिकरणमात्मा" आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं, अपितु ज्ञान का अधिकरण है; ऐसा मानते हैं। परन्तु उदाहृत श्रुतियों से विरुद्ध होने के कारण उसमें अपनी असम्मति प्रदर्शित करने के लिये उसे "नित्योपलब्धिस्वरूप" कहा है। उपलब्धि का अर्थ होता है–बोध, ज्ञान। (न्यायदर्शन का सूत्र है–"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्", बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, ये सब एक ही पदार्थ हैं)। अतः

रविरादित्यः यथा येन प्रकारेण प्रकाशकत्वेन लोकानां चेष्टायां स्पन्दने निमित्तं हेतुः, तथैवाधिष्ठातृत्वेन यो निमित्तं सोऽहमात्मेत्यर्थः–इतीयं दृष्टिरात्मज्ञानोपायत्वेन दर्शिता।

परमार्थतस्तु–निरस्ताः निराकृताः अखिलाः निरवशेषाः उपाधयो

नित्योपलब्धिस्वरूप का अर्थ है नित्यज्ञानस्वरूप। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २-१) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० ३-१-३) "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" इत्यादि अनेकानेक श्रुतियाँ उसको नित्यविज्ञानस्वरूप वतलाती है।

जिस प्रकार से आदित्य प्रकाशक होने के कारण लोगों की चेष्टा में निमित्त है, उसी प्रकार अधिष्ठाता होने के कारण (करणों की प्रवृत्ति का) जो निमित्त है, वह आत्मा मैं हूँ, यह दृष्टि आत्मज्ञान के उपाय के रूप में दिखा दी गयी।

आत्मा को प्रवृत्ति का निमित्त बतलाने पर अकर्ता आत्मा में प्रवर्तकतारूप कर्तृत्व की शङ्का की जा सकती थी, जिसका निवारण करने के लिये अकर्ता आत्मा के निमित्तत्व को दृष्टान्त द्वारा समझा रहे हैं। प्रातःकाल उदय होता सूर्य किसी को जगाता नहीं है, अथवा किसी को वाणी से दिनचर्या में प्रेरित नहीं करता, अपितु वह प्रकाश देता रहता है जिससे समस्त जगत् जगकर स्वयं ही अपने-अपने कार्यों में लग जाता है; इसी प्रकार आत्मा भी वाणी आदि से इन्द्रियों की प्रवृत्ति का निमित्त नहीं बनता, अपितु वह समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने के कारण प्रवृत्ति का निमित्त बनता है, उसके अभाव में इन्द्रियों के अन्तर्गत प्रवृत्ति संभव ही नहीं है। केनोपनिषद् वाक्यभाष्य में भगवान् भाष्यकार कहते हैं–"न हि शिष्यानिव मनआदीनि विषयेभ्यः प्रेषयत्यात्मा, विविक्तनित्यचित्स्वरूपतया तु निमित्तमात्रं प्रवृत्तौ, नित्यचिकित्साधिष्ठातृवत्" अर्थात् जिस प्रकार गुरु शिष्यों को कहीं भेजता है, इस प्रकार आत्मा मन आदि को विषयों के समीप नहीं भेजता, विविक्त अर्थात् सब से असङ्ग होने के कारण; अपितु नित्यचैतन्यस्वरूप होने के कारण वह उनकी प्रवृत्ति में निमित्तमात्र है, जिस प्रकार नित्यचिकित्सा अर्थात् भोजन का अधिष्ठाता चकोर पक्षी (यह व्याख्या भाष्यपरिष्कर्ता स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज की टिप्पणी के आधार पर की गयी है)। दृष्टान्त का भाव यह है कि प्राचीन काल में जिस समय राजा-महाराजा भोजन करते थे, तो भोजन की परीक्षा करने के लिये उनके सम्मुख चकोर पक्षी लाकर रख दिया जाता था, उस समय ऐसी मान्यता थी कि यदि भोजन विषाक्त होता था तो चकोर अपनी आँखे बन्द कर लेता था तथा यदि विषरहित होता था तो अपनी आँखे खुली रखता था, इस प्रकार उसकी सन्निधिमात्र ही राजा की भोजन में प्रवृत्ति का निमित्त होती थी। विषाक्त भोजन रख देने पर रंग बदल लेने वाले इतिहास-प्रसिद्ध चीनदेशीय पात्रों को भी दृष्टान्त बनाया जा सकता है। वैसे सर्वाधिक सरल दृष्टान्त चुम्बक का भी हो सकता है, वह भी अपनी सन्निधि मात्र से ही लौह के अन्तर्गत प्रवृत्ति उत्पन्न कर देता है।

(यद्यपि व्यवहारकाल में आत्मा बुद्ध्यादि उपाधियों से उपहित दिखायी पड़ता है तथा उनकी प्रवृत्ति में निमित्त बनता हुआ प्रतीत होता है, परन्तु) परमार्थतः तो समस्त बुद्धिआदि उपाधिओं से वह (आत्मतत्त्व) रहित है, अतः उसे 'निरस्ताखिलोपाधिः' (जिसमें

बुद्ध्यादिलक्षणाः यस्य स तथोक्तः। निरस्ताखिलोपाधित्वादेवायमाकाशकल्पः आकाशवद्विशुद्ध इत्यर्थः। १।

ननु मनश्चक्षुरादिप्रवृत्तौ किमर्थमधिष्ठाता इष्यते? स्वयमेव कस्मान्न प्रवर्तन्ते? कथञ्च नित्योपलब्धिस्वरूपत्वमधिष्ठातुरिष्यते? इत्यत आह–

समस्त उपाधियाँ निरस्त हो गयी हैं) कहा गया है। तथा समस्त उपाधियों से रहित होने के कारण ही यह आकाश के समान है अर्थात् आकाश के समान अत्यन्त शुद्ध है; यह अर्थ है। १।

करणों की प्रवृत्ति का निमित्त जीवोपाधिविशिष्ट आत्मा ही होता है, अनुपहित नहीं। अतः कोई जीवोपाधिविशिष्ट आत्मा को ही अपना पारमार्थिक स्वरूप न मान बैठे, अतः अन्त में उसे निरस्ताखिलोपाधिः कहा है। अपने सामीप्य आदि के द्वारा अन्य में अपने धर्म का आरोपण करने वाले पदार्थ को उपाधि कहा जाता है। जिस प्रकार शुद्ध श्वेत स्फटिक मणि के समीप आने पर उसमें अपने रक्तत्व धर्म का आरोपण करने वाला जपापुष्प उपाधि कहलाता है। इसी प्रकार वस्तुतः शुद्ध अकर्ता आत्मा में अपने कर्तृत्वादि धर्मों का आरोपण करने वाले बुद्ध्यादि भी आत्मा की उपाधियाँ हैं। परन्तु जिस प्रकार स्फटिक मणि उपाधि द्वारा आरोपित धर्म से निर्लिप्त रहता है तथा उपाधि के हट जाने पर पुनः अपने पारमार्थिक शुद्ध स्वरूप में आ जाता है, इसी प्रकार आत्मा के विषय में भी समझना चाहिये। अज्ञानीजन उपाधि से उपहित आत्मा को अपना स्वरूप मान कर अपने-आप को कर्ता-भोक्ता मान कर सुखी-दुःखी होते रहते हैं, परन्तु ज्ञानीजन प्रस्तुत श्लोकानुसार अनुपहित आत्मा को ही अपना वास्तविक स्वरूप जानकर अपने-आप को अकर्ता-अभोक्ता जान कर सदैव परमानन्द में विलीन रहते हैं–"नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्...इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्" (इन्द्रियाँ ही अपने अर्थों में प्रवृत्त हो रही हैं, ऐसा निश्चय करके तत्त्ववेत्ता योगयुक्त पुरुष 'मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ' ऐसा माने; गी० ५-८,९)।

पू०–मन तथा चक्षु आदि की प्रवृत्ति में अधिष्ठाता की इच्छा किस प्रयोजन से की जा रही है? (वे मनश्चक्षुरादि) स्वयं ही क्यों नहीं प्रवृत्त हो सकते? तथा क्यों अधिष्ठाता को नित्योपलब्धिस्वरूप मानने की इच्छा की जा रही है? (किसी के मन में ये प्रश्न उठ सकते हैं,) अतः कहते हैं–

शङ्कावादी का भाव यह है कि मनआदि की प्रवृत्ति के लिये किसी अन्य अधिष्ठाता की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि इस प्रकार तो अनवस्था दोष आ जायेगा, अर्थात् फिर उस अधिष्ठाता का भी कोई अन्य अधिष्ठाता मानना पड़ेगा। अतः 'वे स्वतन्त्र ही अपने विषयों में प्रवृत्त होते हैं' ऐसा मानने में क्या दोष है? और चलिये, यदि आप अधिष्ठाता मानना ही चाहते हो, तो फिर उसको नित्यविज्ञानस्वरूप मानने की क्या आवश्यकता पड़ गयी? इन्हीं सब शङ्काओं के समाधान के लिये अग्रिम श्लोक प्रस्तुत है।

यमग्न्युष्णवन्नित्यबोधस्वरूपं मनश्चक्षुरादीन्यबोधात्मकानि।
प्रवर्तन्त आश्रित्य निष्कम्पमेकं स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा। २।

(चक्षुआदि बाह्यकरण तथा मनआदि अन्तःकरण आत्मा के ही आश्रित होते हैं)

जिस कम्पनरहित, एक, अग्नि की उष्णता के समान नित्यबोधस्वरूप (आत्मा) को आश्रय बना कर अचेतनस्वरूप मन-चक्षु आदि प्रवृत्त होते हैं, वह नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ। २।

परमात्मा को निष्कम्प तथा एक बतलाते हुए ग्रन्थकार के मन में यह श्रुति उपस्थित हो रही है-"अनेजदेकम्" (ईशावास्यो० ४) वह परमात्मा निष्कम्प तथा एक है। वहाँ इसका व्याख्यान करते हुए भगवान् भाष्यकार कहते हैं-"अनेजत्, न एजत्, एजृ कम्पने। कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिस्तद्वर्जितं सर्वदैकरूपमित्यर्थः। तच्चैकं सर्वभूतेषु" अनेजत् अर्थात् कम्पन न करने वाला; कम्पन अर्थात् चलन, इसका तात्पर्य है अपनी स्वरूपभूता अवस्था से च्युत हो जाना, उससे जो रहित है, वह अनेजत् है, अर्थात् सर्वदा एकरूप रहने वाला। तथा वह सब भूतों में एक ही है। कम्पन का अर्थ संशय भी होता है।

जिस प्रकार उष्णता अग्नि से अभिन्न होने के कारण अग्नि का स्वरूप है, इसी प्रकार ज्ञान आत्मा से अभिन्न होने के कारण आत्मा का स्वरूप है, यह दृष्टान्त का भाव है। यहाँ ज्ञान का तात्पर्य चेतनता है। यह नियम है कि अचेतन पदार्थों के अन्तर्गत क्रिया तभी संभव हो पाती है, जब वे किसी चेतन से अधिष्ठित होते हैं। जिस प्रकार अचेतन रथ के अन्तर्गत क्रिया तभी संभव हो पाती है, जब वह चेतन अश्व अथवा रथी द्वारा अधिष्ठित होता है। इसी प्रकार अचेतन मन आदि करणों के अन्तर्गत प्रवृत्ति तभी संभव हो सकती है, जब वे चेतन आत्मा द्वारा अधिष्ठित होते हैं। परन्तु वह निमित्तता पूर्वश्लोकानुसार सूर्य के समान ही है, यह सर्वदा ध्यान रखना चाहिये।

यमिति। यं नित्यबोधस्वरूपमात्मानमाश्रित्य मनश्चक्षुरादीनि प्रवर्तन्ते, सोऽहमात्मेति सम्बन्धः।

ननु कथं बोधस्य नित्यत्वम्? बोधो हि नाम ज्ञानम्; तच्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षादिना जायते समुत्पद्यते; उत्पन्नं च ज्ञानं स्वकार्येण संस्कारेण विरोधिना ज्ञानान्तरेण वा

जिस नित्यबोधस्वरूप आत्मा को आश्रय बना कर मन तथा चक्षु आदि प्रवृत्त होते हैं, वह आत्मा मैं हूँ; इस प्रकार (श्लोक में शब्दों का) सम्बन्ध है।

(आत्मा के नित्यबोधस्वरूपत्व का उपपादन)

पू०-बोध नित्य कैसे है? क्योंकि बोध का तात्पर्य है ज्ञान; तथा वह इन्द्रिय एवं पदार्थ के संयोग आदि के द्वारा उत्पन्न होता है, तथा वह उत्पन्न ज्ञान अपने कार्य संस्कार अथवा विरोधी ज्ञानान्तर से नष्ट हो जाता है। अतः उत्पत्ति तथा नाश रूप धर्म वाला होने के

विनश्यति; अत उत्पत्तिनाशधर्मवत्त्वान्न नित्यं भवितुमर्हति। नापि बोधस्वरूपत्वमात्मन उपपद्यते; नित्यत्वादात्मनः, अनित्यत्वाच्च बोधस्य। नहि नित्यानित्ययोरेकस्वभावत्वम्, विरोधादिति।

अत्रोच्यते–बोधो हि नाम चैतन्यमभिप्रेतम्। न च ज्ञानं चैतन्यम्, जन्यज्ञानस्य ज्ञेयत्वेन घटादिवज्जडत्वात्। ज्ञेयं हि ज्ञानम्, 'घटज्ञानं मे जातम्' 'पटज्ञानं मे जातम्' इति साक्षादनुभूयमानत्वात्। अतः तस्यानित्यत्वेनाऽनात्मस्वरूपत्वेऽपि नित्यबोधस्वरूपत्वमात्मन उपपद्यते।

कारण वह नित्य नहीं हो सकता। (इसलिये) आत्मा की बोधरूपता भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि आत्मा नित्य है तथा बोध अनित्य है। नित्य तथा अनित्य एक के स्वभाव कभी भी नहीं होते, क्योंकि दोनों में विरोध है।

पूर्वपक्षी का भाव यह है कि गतश्लोक भाष्य में आपने "नित्या चासावुपलब्धिश्च" ऐसा कर्मधारय करके ज्ञान को नित्य बतलाया था, यह हमारी समझ में नहीं आता। क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति तथा विनाश होते हुए देखा जाता है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि के द्वारा प्रत्यक्षप्रमा आदि की उत्पत्ति तथा संस्कार अथवा अपने से विरुद्ध दूसरे ज्ञान का उदय होने पर उसका नाश होते देखा जाता है। अतः उसको नित्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि नित्य का लक्षण ही है–"उत्पत्तिविनाशशून्यं वस्तु नित्यम्" (उत्पत्ति तथा विनाश से रहित वस्तु नित्य कहलाती है)।

इसी प्रकार आपका यह कथन कि 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है' भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जब ज्ञान अनित्य है, तो वह नित्य आत्मा का स्वभाव कैसे हो सकता है? यह तो सर्वथा असम्भव है कि नित्यता तथा अनित्यता, दोनों एक साथ एक ही अधिकरण में रहें। क्योंकि ऐसा नियम है कि परस्पर-विरुद्ध धर्म कभी भी एक अधिकरण में नहीं रहते।

सि०–इस पर कहा जाता है–बोध से निश्चय ही (हमें) चेतनता अभिप्रेत है। (आप जिस ज्ञान की बात कर रहे हैं, वह) ज्ञान चैतन्य नहीं है, क्योंकि जन्यज्ञान (आत्मतत्त्व के द्वारा) ज्ञेय (ज्ञान का विषय) होने के कारण घटादि पदार्थों के समान जड ही है। (उत्पाद्य) ज्ञान निश्चय ही ज्ञेय है, क्योंकि "मुझे घट का ज्ञान हुआ, मुझे पट का ज्ञान हुआ" इस प्रकार साक्षात् ही (उसके ज्ञेयत्व का) अनुभव होता है। अतः अनित्य होने के कारण उस (उत्पाद्य ज्ञान) के अनात्मस्वरूप होने पर भी आत्मा की नित्यबोधस्वरूपता उपपन्न (अर्थात् युक्तिसङ्गत) है।

पूर्वोक्त आक्षेप का समाधान प्रस्तुत करते हुए सिद्धान्तपक्षी कह रहे हैं–महानुभाव! आप बोध शब्द से (अर्थात् बोध, उपलब्धि अथवा ज्ञान इत्यादि समस्त ज्ञानवाचक शब्दों से) हमारा तात्पर्य समझे बिना ही शङ्का कर रहे हैं; बोध शब्द से हमारा तात्पर्य है चेतनता। यह समझ लीजिये कि 'नित्यज्ञानस्वरूप'

नन्वात्मनश्चेतनत्वे किं प्रमाणमिति चेत्।

जगत्प्रकाश इति ब्रूमः। जगत्प्रकाशत इति सर्वजनसिद्धम्। तत्र ज्ञानादीनां ज्ञेयत्वेन जडत्वादात्मप्रकाशेनैव जगत्प्रकाशत इति निश्चितं भवति। आत्मा च स्वपरप्रकाशवान्, सवितृप्रकाशवत्; यथा सविता स्वयं प्रकाशमानो जगदपि प्रकाशयति, तथाऽऽत्मापीति।

इस शब्द में ज्ञानपद से आपके द्वारा कहा हुआ वह ज्ञान हमें अभिप्रेत नहीं है, जो उत्पन्न होता है तथा नष्ट हो जाता है। क्योंकि आपके द्वारा कथित उत्पाद्य तथा विनाश्य ज्ञान चैतन्य नहीं हैं, अपितु जड है। यहाँ उत्पाद्यज्ञान के जडत्व की सिद्धि के लिये सिद्धान्ती अनुमान प्रस्तुत करता है–जन्यं ज्ञानं जडम्, ज्ञेयत्वात्, घटादिवत् (जन्यज्ञान जड है, ज्ञेय होने के कारण, घटादि के समान)। जो-जो पदार्थ ज्ञेय होता है, वह जड भी होता है, ऐसा नियम है, घटादि समस्त अनात्मपदार्थों में यह नियम घटित होते देखा जा सकता है, अतः ज्ञेय होने के कारण यह जन्यज्ञान भी जड ही है। आत्मा के ज्ञेय अर्थात् ज्ञान का विषय न होने से उसमें इस अनुमान की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

परन्तु जन्यज्ञान ज्ञेय कैसे है? यह पूछे जाने पर सिद्धान्ती लौकिक अनुभव प्रस्तुत करता है कि "मुझे घट का ज्ञान हो रहा है" ऐसा भान होते समय घट के समान ही उत्पत्तिविनाशशील घटज्ञान का भी ज्ञान चैतन्य आत्मा को हो रहा है, अतः अनित्यज्ञान का ज्ञेयत्व प्रत्यक्षसिद्ध है।

इस प्रकार उत्पाद्यज्ञान के अनित्य होने पर भी हमें ज्ञानशब्द से अभिप्रेत चेतनता के नित्य होने के कारण आत्मा के नित्यविज्ञानस्वरूपत्व को मानने में कोई दोष नहीं है, यह सिद्ध होता है।

(आत्मा की चेतनता का विचार)

पू०–(ठीक है, आप आत्मा को नित्यचेतनस्वरूप बतला रहे हैं, परन्तु) आत्मा की चेतनता में क्या प्रमाण है? यदि हम ऐसा पूछें तो?

सि०–हम कहेंगे कि जगत्प्रकाश (अर्थात् जगत् का प्रकाशित होना ही आत्मा की चेतनता में प्रमाण है)। (इस संग्रहवाक्य को स्पष्ट करते हैं–) जगत् प्रकाशित हो रहा है, यह तो सब जनों में प्रसिद्ध है (अतः इसकी सिद्धि में अन्य प्रमाण प्रस्तुत करने की कोई आवश्यकता नहीं है, कोई भी व्यक्ति यह नहीं कहता कि मुझे जगत् का भान नहीं हो रहा है)। वहाँ (जन्य) ज्ञान आदि समस्त पदार्थों के ज्ञेय होने से जड होने के कारण आत्मा के प्रकाश से ही जगत् प्रकाशित हो रहा है, ऐसा निश्चित होता है। सूर्य के समान आत्मा भी स्वपरप्रकाशवान् है, (तात्पर्य यह है कि) जिस प्रकार सूर्य स्वयं प्रकाशित होता हुआ जगत् को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा भी है।

समाधान के रूप में सिद्धान्ती का तर्क है कि सर्वजनप्रसिद्ध जगत् का भान होना ही आत्मा की चेतनता में हेतु है। किसी जड पदार्थ को अन्य जडपदार्थों का भान नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा

अस्तु तर्हि चिद्धर्मा पुरुषः, कथमयं चित्स्वभाव इति।

न; धर्मधर्मिभावस्यानुपपत्तेः। तथाहि—आत्मनश्चैतन्यं भिन्नम्, अभिन्नं वा,

---

होना संभव होता तो जगत् में समस्त पदार्थों को परस्पर एक दूसरे का भान होना चाहिये था। अतः इस जगत् का भान करने वाले आत्मा को चेतन मानना ही पड़ता है।

इस पर पूर्वपक्षी कह सकता है कि मन, बुद्धि अथवा जन्यज्ञान द्वारा जगत् का प्रकाश क्यों नहीं मान लेते, इसके लिये आत्मा को मानने की क्या आवश्यकता है? इस पर सिद्धान्ती कहता है कि वे सब जड हैं, अतः उनको जड जगत् का प्रकाशक नहीं माना जा सकता है। पुनः पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि उनको आत्मा के समान चेतन क्यों नहीं मान लेते? तो इस पर सिद्धान्ती समाधान प्रस्तुत करता है कि १. मन को चेतन इसलिये नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह जड पञ्चमहाभूतों का कार्य होने से अन्य समस्त पदार्थों के समान भौतिक, अपने से भिन्न किसी कर्ता का उपकरण मात्र तथा ज्ञेय ही है। २. इसी प्रकार बुद्धि भी अपने से भिन्न किसी कर्ता का उपकरणमात्र तथा ज्ञेय होने के कारण चेतन नहीं है। "मैं अपनी बुद्धि से इस बात को समझ रहा हूँ" यह लोकानुभव बुद्धि को अन्य किसी ज्ञाता का उपकरण सिद्ध करता है। ३. जन्यज्ञान तो पूर्वोक्त रीति से जड है ही। अतः अन्त में आत्मा ही एकमात्र चेतन सिद्ध होता है।

यही कारण है कि श्रुतियाँ आत्मा को एकमात्र वेत्ता मानती हैं—"स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता" (वह समस्त वेद्यजगत् को जानने वाला है, परन्तु उसका वेत्ता कोई नहीं है; श्वे० ३-१९) "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (अरे मैत्रेयी! समस्त जगत् के एकमात्र विज्ञाता को किस अन्य वेत्ता द्वारा जाना जाये? ; बृ० २-४-१४) "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" (वेत्ता होने के कारण वह विदित तथा अविदित से भिन्न है; के० १-३)। इन्हीं श्रुतियों से आत्मा के ज्ञेयत्व अर्थात् ज्ञानविषयत्व का भी प्रतिषेध हो जाता है।

परन्तु यहाँ पुनः शङ्का होती है कि यदि आत्मा चेतन होने के कारण सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, तो आत्मा को प्रकाशित कौन करता है? क्या उसके लिये एक दूसरी आत्मा के अस्तित्व को मानना पड़ेगा?

इसके उत्तर में कहा जाता है कि आत्मा स्वयं प्रकाश है, वह सूर्य के समान सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने के साथ-साथ अपने आप को भी प्रकाशित करता है, अतः अपने आप को प्रकाशित करने के लिये उसे किसी प्रकाशान्तर की आवश्यकता नहीं है।

(आत्मा के चैतन्यधर्मित्व का निराकरण)

पू०—अस्तु, तो फिर पुरुष चेतनतारूप धर्म वाला है, (यह सिद्ध होता है), फिर यह चेतनस्वभाववाला कैसे है?

भाव यह है कि आपके पूर्वोपन्यस्त तर्कों द्वारा तो यही सिद्ध होता है कि चेतनता आत्मा का धर्म है तथा आत्मा उसका धर्मी है, यह तो सर्वथा सिद्ध नहीं होता कि यह चेतनस्वभाव वाला है, इस स्थिति में फिर आप उसको नित्यबोधस्वरूप अर्थात् नित्यचेतनस्वभाववाला कैसे कह सकते हो?

सि०—नहीं, क्योंकि (आत्मा तथा चेतनता में) धर्मधर्मिभाव अनुपपन्न (युक्तिविरुद्ध)

भिन्नाभिन्नं वा।

तत्र न तावद्भिन्नम्। भिन्नश्चेद्घटवदात्मधर्मत्वानुपपत्तेः।

ननु घटोऽसम्बन्धादात्मधर्मो न भवति, चैतन्यन्त्वात्मसम्बन्धीति युक्तमात्मधर्मत्वम्–

है। (इसको सिद्ध करते हैं–) वह ऐसा इसलिये है, क्योंकि–(यदि आप चेतनता को आत्मा का धर्म मानते हो, तो) आत्मा से चेतनता भिन्न है, अथवा अभिन्न है, अथवा भिन्नाभिन्न है (ये तीनों ही पक्ष अयुक्तियुक्त हैं)।

यहाँ पर वितण्डावादी पूर्वपक्षी को समझाने के लिये वितण्डावाद का ही आश्रय लिया जा रहा है। सर्वप्रथम पूर्वपक्षी को अभिमत चेतनता की आत्मधर्मता को तर्कविरुद्ध सिद्ध करते हैं, जिससे चेतनता की आत्मस्वभावता परिशेषतः स्वतः सिद्ध हो जायेगी। अतः सिद्धान्ती चेतनता को आत्मा का धर्म मानने पर तीन सम्भावनाएं प्रकट करता है, जिसमें उसका भाव यही है कि यदि आप दोनों में धर्म-धर्मिभाव मानते हो, इस स्थिति में या तो दोनों धर्म-धर्मी भिन्न हैं, अथवा अभिन्न हैं, या भिन्नाभिन्न है। इनके अतिरिक्त चौथी कोई सम्भावना नहीं है; यदि हमने इन तीनों पक्षों को असिद्ध कर दिया, तो आधार के पतन से आधेय के पतन के समान आपका धर्म-धर्मिभाव-सिद्धान्त भी आधारविहीन होकर भ्रष्ट हो जायेगा। अतः तीनों पक्षों का परीक्षण करते हुए किसी भी पक्ष की स्वीकृति करने पर धर्म-धर्मिभाव के पूर्वपक्षमत को असम्भव सिद्ध करने जा रहे हैं।

("आत्मा चेतन से भिन्न है" इस प्रथमपक्ष का परीक्षण)

उन (तीन पक्षों) में सर्वप्रथम (चेतनता धर्म को धर्मी आत्मा से) भिन्न नहीं कह सकते। क्योंकि यदि वह (चेतनता आत्मा से) भिन्न है (ऐसा माना जाता है), तो घट के समान (भिन्न होने के कारण) वह आत्मा का धर्म नहीं माना जा सकता है।

पूर्वोक्त तीनों पक्षों में से प्रथम पक्ष का परीक्षण करते हुए कहते हैं कि यदि आप चेतनता को आत्मा का धर्म कहना ही चाहते हो, तो इस स्थिति में आप चेतनता को आत्मा से भिन्न नहीं बता सकते, क्योंकि जिस प्रकार भिन्न होने के कारण घटादि समस्त अनात्मपदार्थ आत्मा के धर्म नहीं हैं, इसी प्रकार भिन्न होने के कारण चेतनता भी आत्मा का धर्म सिद्ध न हो सकेगा।

पू०–पर घट (आत्मा के साथ कोई) सम्बन्ध न होने के कारण आत्मा का धर्म नहीं होता, चेतनता तो आत्मा के साथ सम्बन्ध वाली है, अतः (उसको) आत्मा का धर्म मानना उचित ही है।

पूर्वपक्षी सिद्धान्ती द्वारा कथित पूर्ववाक्य पर आक्षेप प्रस्तुत करते हुए कह रहा है कि क्या आपको पता है कि घट आत्मा का धर्म क्यों नहीं बन सकता? नहीं पता है तो सुन लीजिये, वह इसलिये क्योंकि उसका आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; परन्तु चेतनता तो आत्मा के साथ सम्बद्ध है, अतः उसको आत्मा का धर्म मानने में कोई दोष नहीं है।

इत्यपि न, सम्बन्धानुपपत्तेः। सम्बन्धो हि तावत्संयोगो वा समवायो वा स्यात्, सम्बन्धान्तरस्यात्रासंभवात्। न तावत्संयोगः; तस्य द्रव्यमात्रधर्मत्वात्, अद्रव्यत्वाच्चैतन्यस्य। नापि समवायः, अनवस्थापातात्। समवायो हि सम्बद्धः समवायिनौ संबध्नाति, असम्बद्धो वा? न तावदसम्बद्धः; घटादिवदकिञ्चित्करत्वात्। सम्बद्धश्चेत्, संयोगादेरभावेन समवायस्यापि समवायान्तरमभ्युपगन्तव्यम्। एवं परम्परापेक्षायामनवस्थापात इति यत्किञ्चिदेतत्। तस्माद्भिन्नत्वपक्षे धर्मधर्मिभावः सर्वथा नोपपद्यते।

सि०–आपका यह कथन भी युक्त नहीं; क्योंकि (आप दोनों में घट के समान ही कोई भी) सम्वन्ध सिद्ध नहीं कर सकते। यहाँ पर सम्वन्ध या तो संयोग अथवा समवाय ही हो सकता था, क्योंकि अन्य कोई सम्वन्ध तो यहाँ सम्भव नहीं है। उनमें से (यहाँ) संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि वह (संयोगसम्वन्ध) द्रव्यमात्र का धर्म है, जबकि चेतनता द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार समवाय भी नहीं हो सकता है, क्योंकि (समवायसम्वन्ध मानने पर) अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आता है। (इसको सिद्ध करते हैं–हम सर्वप्रथम आपसे पूछते हैं कि) समवायसम्बन्ध (स्वयं) सम्वद्ध होकर दोनों समवायियों को सम्वन्धित करता है, अथवा स्वयं असम्वद्ध रह कर? (अव दोनों पक्षों में दोषप्रदर्शन करते हैं–) (स्वयं) असम्वद्ध रहकर तो (वह दोनों समवायियों को सम्वद्ध) नहीं कर सकता; क्योंकि (असम्बद्ध रह कर तो वह) घटादि (असम्वद्ध पदार्थों के समान ही) कुछ भी करने में असमर्थ होगा। यदि कहो कि सम्वद्ध होकर (समवायसम्वन्ध दोनों समवायियों को सम्वन्धित करता है), तो संयोगादि (अन्य किसी सम्वन्ध) का अभाव होने के कारण समवायसम्वन्ध का भी (अर्थात् समवाय-सम्बन्ध को भी सम्बन्धित करने वाला) दूसरा समवायसम्वन्ध स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार परम्परा की अपेक्षा होने के कारण अनवस्था का प्रसङ्ग आता है; इस प्रकार जो कुछ भी हो (परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि) इसलिये भिन्नत्वपक्ष में (चेतनता तथा आत्मा का) धर्म-धर्मिभाव सर्वथा युक्तियुक्त नहीं है।

यदि आप किसी सम्वन्ध के आधार पर आत्मा से भिन्न चेतनता को आत्मा का धर्म सिद्ध करना चाहते हो, तो यह आपकी भूल है क्योंकि यदि हम आपसे चेतनता तथा आत्मा के बीच सम्वन्ध वतलाने के लिये कहें, तो आप कोई भी सम्वन्ध न वता पायेंगे। यहाँ दो ही सम्बन्ध सम्भव थे–१. संयोग, २. समवाय। इनमें से सर्वप्रथम संयोग का परीक्षण करके देखें तो आपको पता लगेगा कि चेतनता तथा आत्मा में यह सम्बन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि यह सम्वन्ध दो द्रव्यों के बीच ही सम्भव

अभिन्नत्वपक्षे तु बोधस्यात्मरूपत्वेन सुतरां धर्मधर्मिभावो नास्त्येव। नहि तस्य तदेव धर्मो भवति; नहि शुक्लं शुक्लस्य धर्मो भवतीति। तस्माद्भिन्नाभिन्नत्वपक्ष एवावशिष्यते।

स च विरोधान्न युज्यते। नह्येकमेवैकस्माद्भिन्नमभिन्नं च भवितुमर्हति, विरोधात्।

अथोच्यते—प्रत्यक्षसिद्धत्वाद्भेदाभेदावविरुद्धौ। तथाहि 'गौरियम्' इति पिण्डाव्यतिरेकेण गोत्वं प्रतीयते; तदेव पिण्डान्तरे प्रत्यभिज्ञायमानत्वाद्भेदेनावगम्यते। अतः प्रत्यक्षेणैव भेदाभेदयोः प्रतीयमानत्वादविरोध इति।

है, जबकि चेतनता आप तार्किकों के मतानुसार द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार समवायसम्बन्ध को भी घटा पाना सम्भव नहीं है। शेष भाष्यग्रन्थ में स्पष्ट ही है।

("आत्मा चेतन से अभिन्न है" इस द्वितीयपक्ष का परीक्षण)

अभिन्नत्वपक्ष में तो बोध (चेतनता) के आत्मरूप होने के कारण धर्म-धर्मिभाव और भी नहीं हो सकता। क्योंकि वही उसी का धर्म नहीं होता, शुक्ल कभी भी शुक्ल का धर्म नहीं हो सकता है। अतः अब (दोनों पक्षों का निराकरण कर दिये जाने पर) भिन्नाभिन्नत्व-पक्ष ही रह जाता है।

अभिन्नत्वपक्ष में चेतनता तथा आत्मा के एक ही होने के कारण धर्म-धर्मिभाव की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती है तथा आपका मत स्वतः निरस्त हो जाता है। क्योंकि कोई भी पदार्थ अपना ही धर्म नहीं होता है, जिस प्रकार शुक्लधर्म कभी भी शुक्ल का धर्म नहीं होता, अपितु अपने से भिन्न वस्त्रादि का धर्म होता है।

("आत्मा चेतन से भिन्नाभिन्न है" इस तृतीयपक्ष का परीक्षण)

तथा वह (भिन्नाभिन्नत्वपक्ष) विरोध के कारण युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि एक से (वह स्वयं) एक ही भिन्न तथा अभिन्न (दोनों) नहीं हो सकता, क्योंकि (दोनों में) विरोध है।

पू०—इस पर कहा जाता है। प्रत्यक्षसिद्ध होने के कारण भेदाभेद विरुद्ध नहीं हैं। क्योंकि "यह गौ है" इसमें (गो-)पिण्ड से अभिन्न गोत्व की प्रतीति होती है। वही दूसरे पिण्ड में पहचाने जाने के कारण भिन्न रूप से जाना जाता है। अतः प्रत्यक्ष से ही भेदाभेद की प्रतीति होने के कारण विरोध नहीं है।

सिद्धान्ती द्वारा परस्परविरुद्ध होने के कारण भिन्नाभिन्नत्व-पक्ष का निराकरण कर दिये जाने पर पूर्वपक्षी द्वारा आक्षेप प्रस्तुत किया जाता है कि भेदाभेद प्रत्यक्षसिद्ध होने के कारण परस्परविरुद्ध नहीं हैं, उदाहरण के लिये "यह गौ है" ऐसा कथन करते समय गोपिण्डरूप द्रव्य से गोत्वजाति अभिन्न ही प्रतीत होती है, परन्तु जब वही गोत्वजाति दूसरे पिण्ड में पहचानी जाती है, तो पता लगता है कि वह भिन्न

नैतत्साधु मन्यामहे, प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धत्वात्। भिन्नमपि हि वस्तु प्रत्यक्षेणात्यन्तसन्निधानादिदोषादभिन्नवत्प्रतीयते, यथा दीपज्वाला भिन्नाऽपि कुतश्चित्कारणादभिन्नवत्प्रतिभासते। तथाऽभिन्नमपि वस्तु भिन्नमिव प्रतिभासते; यथैकस्माच्चन्द्राद् द्वितीयश्चन्द्र इति। अतः प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धत्वान्न तेन प्रत्यक्षेण प्रमाणसिद्धस्य भेदाभेदविरोधस्य प्रतिक्षेपो युक्त इति।

अथैवमुच्यते–चैतन्यस्य द्वे रूपे स्तः, आत्मस्वरूपता चैतन्यस्वरूपता चेति। तत्राऽत्मस्वरूपतयाऽत्मनो न भिद्यते, भिद्यते च चैतन्यस्वरूपतया। अत उभयरूपाभ्यां भिन्नाभिन्नत्वमविरुद्धमिति।

भी है; इसी प्रकार आत्मा तथा चेतनता के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

सि०–इसको हम ठीक नहीं मानते, क्योंकि (पूर्वोक्त) प्रत्यक्ष की सिद्धि (आपके द्वारा कथित उपपत्ति से भिन्न) दूसरे प्रकार से (अर्थात् उसे भ्रम मानकर) भी हो सकती है (उसके लिये भेदाभेद को अविरुद्ध मानना आवश्यक नहीं है)। कई बार भिन्नवस्तु भी अत्यन्तसन्निधि आदि दोषों के कारण प्रत्यक्ष से अभिन्न के समान प्रतीत होती है–जिस प्रकार दीपज्वाला भिन्न होती हुई भी किसी कारण से अभिन्न जैसी प्रतीत होती है–तथा अभिन्न वस्तु भी भिन्न जैसी प्रतीत होती है, जिस प्रकार (चक्षु में तिमिरादि दोष आ जाने के कारण चन्द्रद्वय का दर्शन होने पर) एक चन्द्र से द्वितीय चन्द्र (भिन्न प्रतीत होता है)। अतः (पूर्वोक्त) प्रत्यक्ष की सिद्धि अन्यथा (भ्रमवशात्) भी संभव होने के कारण उस (भ्रान्त) प्रत्यक्ष से भेद-अभेद के प्रमाणसिद्ध विरोध का अपलाप उचित नहीं है।

पू०–अच्छा, फिर ऐसा कहा जा सकता है–चैतन्य (अर्थात् चेतनता) के दो रूप हैं–१. आत्मस्वरूपता, २. चैतन्यस्वरूपता। उनमें से आत्मस्वरूपता के द्वारा (चेतनता) आत्मा से अभिन्न है तथा चैतन्यस्वरूपता के द्वारा भिन्न भी है। अतः दोनों रूप होने के कारण भिन्नाभिन्नत्व अविरुद्ध है।

आत्मा तथा चेतनता में भेदाभेद सिद्ध करने के लिये ऐसा कहा जा सकता है कि चेतनता के दो रूप मान लिये जायें, एक रूप में वह आत्मा का स्वरूप है तथा दूसरे में वह चैतन्यस्वरूप ही है। इनमें से आत्मस्वरूप होने के कारण वह आत्मा से अभिन्न है, यह कहा जा सकता है तथा इसके साथ ही चैतन्यस्वरूप होने के कारण आत्मा से भिन्न भी है; इस प्रकार भेदाभेद की सिद्धि हो जाती है।

तदपि न, धर्मधर्मित्वाभावात्। तथाहि–येन रूपेण तदभिन्नं न तेन रूपेण धर्मत्वमभिन्नत्वादवोचाम। येन रूपेण भिन्नम्, तेनापि न धर्मः, भिन्नत्वाद्घटादिवदित्युक्तम्।

यच्चोक्तम्–'उभयरूपाभ्यां भिन्नाभिन्नत्वम्'–इति, तदपि विचारं न सहते। ते रूपे किं चैतन्याद्भिन्ने, अभिन्ने, भिन्नाभिन्ने वा? तत्र न तावद्भिन्ने, भिन्नत्वे घटादिवदकिञ्चित्करत्वात्। अभिन्नत्वे चैतन्यमात्रमेवेति न ताभ्यां भिन्नाभिन्नत्वम्। भिन्नाभिन्नत्वं च विरोधादेव न युक्तम्। तयोरपि रूपान्तराभ्यां भिन्नाभिन्नत्वाभ्युपगमेऽनवस्थापात इत्यलमतिविस्तरेण।

सि०–वह भी नहीं है, क्योंकि (इस रीति से भेदाभेद की सिद्धि का प्रयत्न करने पर आपका साध्य आत्मा तथा चेतनता के) धर्मधर्मिभाव का अभाव हो जायेगा। क्योंकि जिस (आत्मस्वरूपता नामक) रूप से वह (चेतनता आत्मा से) अभिन्न होगी, उस रूप से वह (आत्मा का) धर्म नहीं हो सकती, अभिन्न होने के कारण, ऐसा हम पीछे कह आये हैं। जिस (चैतन्यस्वरूपता नामक) रूप से वह (चेतनता आत्मा से) भिन्न है, उससे भी (वह चेतनता आत्मा का) धर्म नहीं बन सकती, भिन्न होने के कारण, घटादि के समान; यह (पीछे) कह दिया गया है।

तथा जो आपके द्वारा कहा गया था–"दोनों रूपों के कारण भिन्नाभिन्नत्व है", यह विचार भी असह्य है। (हम आपसे पूछते हैं कि चेतनता के) वे दोनों रूप चेतनता से भिन्न हैं, अभिन्न हैं या भिन्नाभिन्न हैं? उनमें से भिन्न तो नहीं हो सकते, क्योंकि भिन्न होने के कारण वे घटादि के समान कुछ भी करने में असमर्थ होंगे। अभिन्न मानने पर वे दोनों चैतन्यमात्र ही हैं, फिर उनसे आप भिन्नाभिन्नत्व की सिद्धि नहीं कर सकते। तथा भिन्नाभिन्नत्व विरोध के कारण ही उचित नहीं है। उन दोनों (रूपों) का भी दूसरे रूपों के कारण (चेतनता से) भिन्नाभिन्नत्व स्वीकार करने पर अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आयेगा; अब अधिक विस्तार नहीं करना चाहिये।

सिद्धान्ती का भाव है कि यदि आप कहो कि वे दोनों (आत्मस्वरूपता तथा चैतन्यस्वरूपता नामक) रूप भी (चेतनता के भेदाभेद को सिद्ध करने के लिये "चैतन्यस्य द्वे रूपे स्तः" इत्यादि ग्रन्थ द्वारा कही गयी प्रक्रिया के समान) किन्हीं अन्य दो रूपों के कारण चैतन्य से भिन्नाभिन्न सिद्ध हो जाते हैं, तो आपका यह तर्क अनवस्थादोषग्रस्त हो जायेगा, क्योंकि फिर उन दो रूपों को भी इन दो रूपों के साथ

तस्मान्नात्मा सर्वथा चिद्धर्मा। किं तर्हि? चित्स्वरूप एवेति। एतेन सदानन्दयोरप्यात्मस्वरूपत्वं व्याख्यातम्।

नित्यश्चात्मा, सदकारणवत्त्वात्, परमाणुवत्। सन्नात्मा, अहमस्मीति प्रतीतेः। अकारणवांश्च; नह्यस्य कारणं वस्तु प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यते, नापि श्रूयते। किन्तु त्रैलोक्यैककारणता ह्यात्मनः श्रूयते–"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० २-१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। नत्वात्मनोऽपि कारणान्तरम्, अतः सदकारणवत्त्वान्नित्य आत्मेति सिद्धम्। तस्मात्साधूक्तं 'नित्यबोधस्वरूपम्' इति।

उसी प्रक्रिया से भिन्नाभिन्न सिद्ध करना पड़ेगा तथा उसके आगे भी ऐसा ही करते रहना पड़ेगा। अब इस वाद-विवाद को आगे वढ़ाना व्यर्थ समझ कर भाष्यकार इसको यहीं समाप्त कर श्लोकव्याख्यान पर ही वापस आते हैं।

(चेतनता के समान सत् तथा आनन्द के भी आत्मस्वरुपत्व का कथन)

अतः आत्मा चेतनतारूप धर्म वाला सर्वथा नहीं है। तो फिर क्या है? चेतनतारूप स्वरूप वाला है। इसी के द्वारा सत् तथा आनन्द भी आत्मा के स्वरूप ही हैं, यह कह दिया गया।

भाव यह है कि जिस प्रकार चेतनता आत्मा का धर्म नहीं, अपितु उसका स्वरूप ही है। इसी प्रकार सत् तथा आनन्द भी आत्मा के धर्म नहीं, अपितु स्वरूप ही हैं। अव आत्मा के नित्यत्व का साधक अनुमान करते हैं–

(आत्मा के नित्यत्व की सिद्धि)

तथा आत्मा नित्य है, सत् तथा कारण से रहित होने के कारण, (नैयायिकों को अभिमत) परमाणु के समान। "मैं हूँ" इस प्रतीति के कारण आत्मा सत् है। आत्मा कारण से रहित भी है, क्योंकि इसका कोई भी कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से देखने में नहीं आता है। (श्रुतियों में) सुना भी नहीं जाता है। प्रत्युत 'आत्मा तीनों लोकों का एकमात्र कारण है', यही (श्रुतियों में) सुना जाता है–"निश्चय ही उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" इत्यादि श्रुतियों के कारण। आत्मा का दूसरा कोई कारण नहीं (सुनने में आता)। अतः सत् तथा कारण-रहित होने के कारण आत्मा नित्य है, यह सिद्ध होता है। अतः (उसके विषय में) "नित्यबोधस्वरूप" यह कथन ठीक ही है।

बोधस्वरूपता की सिद्धि के उपरान्त नित्यता की भी सिद्धि कर रहे हैं। आत्मा की नित्यता में यह हेतु प्रस्तुत किया गया है–आत्मा सत् होते हुए कारणरहित है–"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप तथा अनन्त है; तै० २-१), "इमाः सर्वाः प्रजाः सत आगत्य न विदुः सत

तत्रैव दृष्टान्तमाह–अग्न्युष्णवदिति। यथोष्णत्वमग्नेर्न व्यतिरिच्यते; व्यतिरेके हि कदाचिदग्नेरन्यत्राप्युपलभ्येत, यथा पुरुषाद्दण्डादि। नचैवमस्ति; तस्मादग्निस्वरूपमेवाग्नेरुष्णत्वम्। एवमात्मनोऽपि चैतन्यं स्वरूपमेवेत्यर्थः। तथाचोक्तम्–"निरंशत्वाद्विभुत्वाच्च तथाऽनश्वरभावतः। ब्रह्मव्योम्नोर्न भेदोऽस्ति चैतन्यं ब्रह्मणोऽधिकम्" इति।

यच्चोक्तम्–'मनश्चक्षुरादीनां प्रवृत्तौ किमर्थमधिष्ठाता इष्यते, स्वयमेव कस्मान्न प्रवर्तन्ते'–इति। तत्राह–अबोधात्मकानीति। हेतुगर्भमिदं विशेषणम्। अतश्चायमर्थः सेत्स्यति–अबोधात्मकत्वादचेतनत्वाच्च घटादिवच्चेतनमधिष्ठातारमाश्रित्यैव प्रवर्तन्त इति।

आगच्छामह इति" (ये समस्त प्रजायें सत् से उत्पन्न होकर भी जानती नहीं हैं कि हम सत् से उत्पन्न हुई हैं, छा० ६-१०-२) "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (यह सम्पूर्ण जगत् आदि में सत्स्वरूप ही था, छा० ६-२-१) "यदन्यद्देवेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च तत्सत्" (जो इन्द्रिय तथा प्राणों से भिन्न है, वह सत् है, कौ० १-६) "सन्मूलम्" (इस समस्त प्रजा का मूल सत् ही है, छा० ६-८-४) "नचास्य कश्चिज्जनिता" (इसका कोई उत्पादक नहीं है) "नचास्य कार्यं करणं च विद्यते" (इसका कोई कार्य तथा कारण नहीं है) इत्यादि अनेकानेक श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

उसी (आत्मा की नित्यबोधस्वरूपता) में दृष्टान्त देते हैं–अग्न्युष्णवदिति। जिस प्रकार उष्णता अग्नि से भिन्न नहीं है। यदि भिन्न होती, तो कदाचित् अग्नि से अन्यत्र भी उपलब्ध होनी चाहिये थी; जिस प्रकार पुरुष से (भिन्न होने के कारण) दण्डादि (अन्यत्र भी उपलब्ध होता है)। परन्तु ऐसा नहीं है, अतः अग्नि की उष्णता अग्नि का स्वरूप ही है। इसी प्रकार चेतनता भी आत्मा का रूप ही है; यह अर्थ है। कहा भी है–"अंश रहित होने के कारण, सर्वव्यापक होने के कारण तथा नाशशील न होने के कारण ब्रह्म तथा आकाश में कोई भेद नहीं है, बस, ब्रह्म की चेतनता ही अधिक है (जो आकाश के अन्तर्गत नहीं है)"।

भाव यह है कि जिस प्रकार उष्णता अग्नि के अभाव में तथा अग्नि उष्णता के अभाव में कहीं भी उपलब्ध नहीं होते, इसी प्रकार चेतनता आत्मा के अभाव में तथा आत्मा चेतनता के अभाव में कहीं भी उपलब्ध नहीं होते, अतः चेतनता को आत्मा का स्वरूप कहा गया। इसी प्रकार सत् तथा आनन्द के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

तथा जो आपने कहा था कि 'मन तथा चक्षु आदि की प्रवृत्ति में किसी अधिष्ठाता की इच्छा क्यों की जा रही है, (वे) स्वयं ही क्यों नहीं प्रवृत्त होते?'; उस पर कहते हैं–अबोधात्मकानीति। यह हेतुगर्भ विशेषण है, अतः यह अर्थ निकलता है–बोधस्वरूप न होने के कारण, अचेतन होने के कारण वे घटादि के समान किसी चेतन अधिष्ठाता का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त होते हैं।

तदचेतनत्वं चैषां तज्ज्ञेयत्वात्, घटादिवदिति। श्रुतिरपि "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" (बृ० ३-७-२३) इत्यादिनाऽऽत्मव्यतिरिक्तस्य चेतनत्वं प्रतिषेधति। अतो युक्तमुक्तम्–'चेतनमाश्रित्य प्रवर्तन्ते' इति। निष्कम्पं निस्तरङ्गं निःसंशयमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः–"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु० २-२-८) इति। एकमद्वितीयं देवतिर्यङ्मनुष्यादिशरीरेष्वेकम्, नतु सांख्यादिपरिकल्पितवन्नानाभूतमित्यर्थः। २।

ननु आत्मन एकत्वे सुखदुःखादिव्यवस्था न स्यात्। तथाहि–सर्वशरीरेषु यद्येक आत्मा भवेत्, तदैकस्मिन् सुखिनि सर्व एव सुखिनः प्रसज्येरन्, सर्वस्याविशेषात्। एवमेकस्मिन्दुःखिनि सर्व एव दुःखिनो भवेयुः; एवमेकस्मिञ्जानति सर्व एव जानीयुः;

'हेतुगर्भ' वह विशेषण कहलाता है, जो विशेषण होते हुए भी विशेष्य की किसी स्थितिविशेष में हेतु प्रस्तुत कर रहा हो। जिस प्रकार 'क्षुधार्तः बालः रोदिति" (भूख से पीड़ित बालक रोता है) इस वाक्य में 'क्षुधार्तः' यह विशेषण बालक की रोदनक्रिया में हेतु प्रस्तुत कर रहा है। इसी प्रकार 'मनश्चक्षुरादीनि' का 'अबोधात्मकानि' यह विशेषण 'मनश्चक्षु आदि की आत्मा का आश्रय लेकर प्रवृत्ति' में हेतु प्रस्तुत कर रहा है।

तथा इनकी वह अचेतनता घटादि के समान उस (आत्मा) के द्वारा ज्ञेय होने के कारण है (यदि वे सचेतन होते, तो आत्मा के समान ज्ञाता होते, ज्ञेय नहीं, यह भाव है)। "इस (आत्मा) के अतिरिक्त कोई द्रष्टा नहीं है" इत्यादि (वाक्यों) द्वारा श्रुति भी आत्मा के अतिरिक्त (किसी भी पदार्थ की) चेतनता का निषेध करती है। अतः '(ये करण) चेतन आत्मा का आश्रय लेकर प्रवृत्त होते हैं' यह युक्तियुक्त ही कहा गया है। 'निष्कम्प' अर्थात् तरङ्ग से रहित, संशय से रहित, यह अर्थ है। श्रुति भी है–"उस परावर ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर हृदय की अविद्याग्रन्थि टूट जाती है, समस्त संशय समाप्त हो जाते हैं तथा समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं" (मु० २-२-८)। एक अर्थात् अद्वितीय, (वह आत्मतत्त्व) देव तिर्यक् मनुष्य आदि समस्त शरीरों में एक है, सांख्य आदि द्वारा कल्पित (पुरुष) के समान नाना नहीं है; यह अर्थ है। २।

पू०–परन्तु आत्मा का एकत्व मानने पर सुख-दुःखादि की व्यवस्था नहीं हो पायेगी। भाव यह है कि यदि समस्त शरीरों में एक ही आत्मा होगी, तो एक के सुखी होने पर सब प्राणियों के सुखी होने का प्रसङ्ग आयेगा, क्योंकि सब समान हैं; इसी प्रकार एक के दुःखी होने पर सभी दुःखी हो जायेंगे; इसी प्रकार एक के जान लेने पर सब जान जायेंगे;

मुखाभासको दर्पणे दृश्यमानो मुखत्वात्पृथक्त्वेन नैवास्ति वस्तु।
चिदाभासको धीषु जीवोऽपि तद्वत्स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा। ३।

(दृष्टान्त द्वारा जीवात्मा का परमात्मा के साथ अभेद का स्पष्टीकरण)

जिस प्रकार दर्पण में दिखायी देने वाला मुख का प्रतिबिम्ब मुख ही होने के कारण वस्तुतः भिन्न नहीं ही है। उसी प्रकार जो (आत्मा) बुद्ध्यादि में (प्रतिम्बित होकर) चित्प्रतिबिम्ब जीव कहलाता है, वह नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ। ३।

प्रस्तुत श्लोक के अन्तर्गत दृष्टान्त द्वारा जीवात्मा का परमात्मा के साथ अभेद समझाया गया है। यही श्रुतिसम्मत सिद्धान्त भी है–"अयमात्मा ब्रह्म" (यह आत्मा ब्रह्म ही है) "तत्त्वमसि" (हे श्वेतकेतु! तुम वह परमात्मा ही हो) "अहं ब्रह्मास्मि" (मैं ब्रह्म ही हूँ) "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (वह इसको सृष्टि करके इसीमें प्रविष्ट हो गया) इत्यादि। यह पारमार्थिक सत्य है, इसी वास्तविकता को समझाने के लिये वेदान्तदर्शन के अन्तर्गत अर्वाचीन आचार्यों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं का आश्रय लिया गया है। इन प्रक्रियाओं में बाह्यदृष्टि से देखने पर कभी-कभी विरोध प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः उनके अन्तर्गत कोई विरोध नहीं है। भगवान् सुरेश्वराचार्य जी ने कहा है–"यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि। सा सैव प्रक्रियेह स्यात्साध्वी सा चानवस्थिता" (जिस जिस प्रक्रिया से पुरुषों को प्रत्यगात्मविषयक बोध हो जाये, वही वही प्रक्रिया यहाँ वेदान्तशास्त्र में उचित मानी जाती है; तथा वे प्रक्रियायें अनन्त हैं)। इस प्रकार का विरोध दोषकारक नहीं है। परिमल में दीक्षितजी भी कहते हैं–"अकल्पितवस्तुप्रतिपत्त्युपायतया कल्प्यमानेषु पदार्थेषु विरोधो न दोषावहः, यथा तात्त्विकारुन्धतीप्रतिपत्त्युपायतया नानापुरुषैः कल्प्यमानासु तत्प्राच्योदीच्यादिनक्षत्ररूपासु स्थूलारुन्धतीषु विरोधो न दोषावहः" (वास्तविक वस्तु के ज्ञान के लिये उपायरूप से कल्पित किये जाने वाले पदार्थों में विरोध दोषकारक नहीं होता है, जिस प्रकार वास्तविक अरुन्धती के बोध के लिये नाना पुरुषों के द्वारा कल्पित की जाने वाली स्थूल अरुन्धतियों में, जो उस वास्तविक अरुन्धती के पूर्व या उत्तर में विद्यमान तारा ही होता है, विरोध दोषकारक नहीं है)। अतः वेदान्तदर्शन का अध्ययन समस्त दुराग्रह तथा पूर्वाग्रहों को त्याग कर केवल सत्य के साक्षात्कार की इच्छा से करना चाहिये।

तथैकस्मिञ्जायमाने म्रियमाणे वा सर्व एव जायेरन् म्रियेरन्; एवमेकस्मिन्बद्धे मुक्ते वा सर्व एव बद्ध्येरन् मुच्येरन्निति। नचैवमस्ति। तस्मादेकत्वमात्मनो न भवितुमर्हतीत्यत आह–

इसी प्रकार एक के उत्पन्न होने तथा मरने पर सभी उत्पन्न हो जायेंगे तथा मर जायेंगे; इसी प्रकार एक के बद्ध या मुक्त होने पर सभी बद्ध या मुक्त हो जायेंगे। पर ऐसा तो है नहीं। अतः आत्मा का एकत्व संभव नहीं है; अतः कहते हैं–

यह आक्षेप मुख्यतः सांख्यों की ओर से किया गया है। सांख्यों के आचार्य श्रीईश्वरकृष्ण जी सांख्यकारिकाओं में कहते हैं–"जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च। पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव" (१८) पुरुष अर्थात् प्रत्येक शरीर में विद्यमान जीवात्मा के अनेकत्व की सिद्धि तथा

मुखाभासक इति। मुखाभासकः मुखप्रतिबिम्बः, दर्पणादौ नानाकारेषु दर्पणेष्विति यावत्, दृश्यमानः मुखत्वात्परमार्थतः मुखस्वरूपत्वात्पृथक्त्वेन भेदेन न विद्यते। यद्यपि मुखाभासको नाम वस्तु नास्त्येव, तथाप्युपाधिभेदात्परमार्थसतो मुखात्परस्परञ्च ते मुखाभासका भिन्नाः प्रतीयन्ते। तथाचोपाधिगतमलिनत्वादिधर्मैः मलिनत्वादिधर्मकाः प्रतीयन्ते। तद्वन्मुखाभासकवच्चिदाभासक आत्मनः प्रतिबिम्बो धीषु

उसके एकत्व-मत का निरास इन तीन हेतुओं से किया जाता है–१. प्रत्येक पुरुष के लिये जन्म, मरण तथा करणों के नियत होने के कारण–यदि समस्त शरीरों में पुरुष अर्थात् जीवात्मा एक ही होता, तो एक के उत्पन्न (अर्थात् देहादि से संयुक्त) हो जाने पर शेष सब को भी उत्पन्न (अर्थात् देहादि से संयुक्त) हो जाना चाहिये, इसी प्रकार एक के मृत (अर्थात् देहादि से वियुक्त) हो जाने पर शेष सब जीवात्माओं को भी मृत (अपने-अपने देहादियों से वियुक्त) हो जाना चाहिये। इसी प्रकार एक के चक्षुयुक्त होने पर शेष सब को भी चक्षुयुक्त होना चाहिये, एक के द्वारा दृष्ट हो जाने पर वह पदार्थ शेष के लिये भी दृष्ट हो जाना चाहिये। इसी प्रकार शेष करणों के विषय में भी समझना चाहिये। २.प्रत्येक पुरुष की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न होने के कारण–किसी की धर्म में, किसी की अधर्म में, किसी की वैराग्य में, किसी की वनिता-वनमालादि भोग्यपदार्थों में; इस प्रकार सब की चित्र-विचित्र तथा परस्पर विरुद्ध प्रवृत्ति देखी जाती है। यदि सर्वत्र जीवात्मा एक होता, तो सर्वत्र प्रवृत्ति भी समान होनी चाहिये। ३.तीनों गुणों का वैचित्र्य होने के कारण–कोई ज्ञानीमनुष्य सतोगुण-प्रधान होते हैं, अन्य मनुष्य रजोगुण-प्रधान होते हैं, तिर्यग्योनियाँ तमोगुण-प्रधान होतीं हैं। यह वैचित्र्य भी जीवात्मा को एक मानने पर संभव नहीं है। अतः इन सब हेतुओं के कारण जीवात्मा को अनेक मानना ही युक्तियुक्त है; ऐसा सांख्य आदि तार्किकों का मत है।

सि०–दर्पणादि में अर्थात् नाना आकार वाले दर्पणों में दिखता हुआ, मुखाभासक अर्थात् मुख का प्रतिबिम्ब, मुख होने के कारण अर्थात् परमार्थतः मुखस्वरूप होने के कारण, पृथक्त्वेन अर्थात् भिन्नतया विद्यमान नहीं है। यद्यपि 'मुख का प्रतिबिम्ब' नामक वस्तु है ही नहीं, तथापि उपाधि के भेद के कारण वे मुख-प्रतिबिम्ब परमार्थसत्स्वरूप (बिम्बभूत) मुख से तथा परस्पर भी भिन्न प्रतीत होते हैं (इस वाक्य द्वारा आत्मैकत्व-पक्ष में जीवात्माओं का परमात्मा के साथ प्रतीत होने वाला भेद तथा जीवात्माओं का परस्पर भेद उपपन्न कर रहे हैं)। तथा उपाधि में स्थित मलिनता आदि धर्मों के कारण (वे मुख-प्रतिबिम्ब) मलिनता आदि धर्म वाले प्रतीत होते हैं (इस वाक्य द्वारा शुद्धात्मपक्ष में जीवात्मा के अन्तर्गत प्रतीत होने वाले मालिन्य को उपपन्न कर रहे हैं; जीवात्मा में प्रतीत होने वाला कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सुखित्व-दुःखित्वादि मल वस्तुतः जीवात्मा का नहीं, अपितु उसकी उपाधियों का है, जिनका आरोपण उपहित आत्मा पर अज्ञानवशात् कर लिया जाता है; यह दृष्टान्त का भाव है)। उसी प्रकार अर्थात् मुख-प्रतिबिम्ब के समान जो बुद्धियों में दिखने वाला चिदाभासक अर्थात् आत्मा का

बुद्धिषु दृश्यमानो जीव इत्युच्यते यः, सोऽहमात्मा। जीवास्ते उपाधिभेदाद्भिन्नाः प्रतिभासन्ते। उपाधिगतसुखदुःखादिभिश्च सुखदुःखादिमन्तश्च प्रतिभासन्ते। उपाधयश्च व्यवस्थितरूपा एवेति सुखदुःखादीनामैकात्म्यपक्षे व्यवस्था युक्तैवेति नायमात्मभेदः शक्यो व्यवस्थापयितुम्। श्रुतिश्चैकात्म्यमेव प्रतिपादयति—"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इति।

आत्मभेदपक्षे त्वियं सुखदुःखादिव्यवस्था नोपपद्यते। तथाहि—'प्रतिशरीरमात्मानो भिन्नाः, ते च सर्वे प्रत्येकं सर्वगताः' इत्यात्मभेदवादिनो मन्यन्ते। तत्र सर्वेषां सर्वगतत्वात्सर्वसन्निधौ सुखादिकमुत्पद्यमानं विशेषहेतोरभावात्कथम् 'एकस्यैव तत्सुखादिकम्, न सर्वेषाम्' इत्यवधारयितुं शक्यते।

प्रतिविम्ब 'जीव' कहलाता है, वह मैं आत्मा हूँ। वे जीव उपाधि-भेद के कारण भिन्न प्रतीत होते हैं। तथा उपाधि में विद्यमान सुख-दुःख आदि (दोषों) के कारण सुख-दुःखादि से युक्त दिखायी पड़ते हैं। तथा उपाधियाँ व्यवस्थितरूप वाली ही होतीं हैं, अतः (हमारे) ऐकात्म्यपक्ष में सुख-दुःखादि की व्यवस्था उचित ही है, प्रत्युत (आपको अभिमत) यह आत्म-भेद (सुख-दुःखादि को) व्यवस्थापित करने में असमर्थ है। (इसके अतिरिक्त) श्रुति भी एकात्मता का ही प्रतिपादन करती है—"ब्रह्म एक तथा अद्वितीय है"।

(आत्म-भेद-मत में सुख-दुःखादि की अव्यवस्था का प्रदर्शन)

परन्तु आत्मभेद-पक्ष में यह सुख-दुःखादि की व्यवस्था युक्तियुक्त नहीं बैठेगी। ऐसा इसलिये है क्योंकि—आत्मा के भेद को बतलाने वाले मानते हैं कि प्रत्येक शरीर में आत्माएं भिन्न हैं, तथा वे प्रत्येक सर्वव्यापक हैं। वहाँ सब (आत्माओं) के सर्वगत (सर्वत्र व्याप्त) होने के कारण सव (आत्माओं) की सन्निधि में उत्पन्न होता सुखादि किसी विशेष हेतु का अभाव होने के कारण "एक को ही वह सुखादि होता है, सब को नहीं" इसका निश्चय किस प्रकार किया जायेगा?

आत्मभेद पक्ष में दोष प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थकार सर्वप्रथम पूर्वपक्ष-मत को अनूदित करते हुए कहते हैं कि आत्मभेदवादी प्रत्येक शरीर में स्थित आत्मा को अन्यशरीरस्थ आत्मा से भिन्न मानते हैं, तथा इसके साथ ही उन समस्त आत्माओं को सर्वव्यापक भी मानते हैं। अब इस मत में सुख-दुःख की अव्यवस्था प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि यदि सब आत्माएं सर्वव्यापक हैं, तो कोई भी उत्पन्न होने वाला सुख या दुःख समस्त आत्माओं की सन्निधि में ही उत्पन्न होगा; ऐसी स्थिति में फिर वह सुख अथवा दुःख किसी एक आत्मा को ही क्यों होता है, सब आत्माओं को क्यों नहीं। इसमें कोई विशेष हेतु भी उपस्थित नहीं किया जा सकता है, जिसके आधार पर एक को होने वाली सुख-दुःखोत्पत्ति को युक्तियुक्त ठहराया जा सके (विशेषहेतु के अभाव का विचार आगे करेंगे)। अतः आत्म-भेद-पक्ष अयुक्तियुक्त है।

अथ यत्सम्बन्धिना कार्यकरणसंघातेन सुखादिकं जन्यते, तस्यैव तदित्यभिधीयत इति।

तन्न, कार्यकरणसंघातस्यापि सर्वात्मसन्निधावुत्पद्यमानस्य विशेषहेतोरभावादेव कथमेकात्मसम्बन्धित्वमिति।

अथ यत्कर्मवशात्कार्यकरणसंघातस्योत्पत्तिः, तस्यैवासौ कार्यकरणसंघात इति विशेषहेतुरिति चेत्।

पू०—परन्तु (हमारे द्वारा) कहा जाता है कि जिस आत्मा के साथ सम्बन्धवान् कार्यकरणसंघात (शरीर, अन्तःकरण तथा वाह्यकरण) के द्वारा सुखादि उत्पन्न किया जाता है, उसी (आत्मा) को वह (सुख-दुःख) होता है (अतः पूर्वोक्त दोष नहीं है)।

पूर्वपक्ष द्वारा आक्षेप का समाधान करते हुए कहा जाता है कि आपके द्वारा हमारे आत्मभेद-पक्ष में प्रदर्शित अव्यवस्था आधारहीन है, क्योंकि हमारा मत यह है कि जिस आत्मा के साथ सम्बन्धित देह-विशेष में सुख-दुःख उत्पन्न होता है, उसी देह विशेष से सम्बन्धित आत्मा को ही सुख-दुःख का साक्षात्कार होता है, शेष को नहीं; अतः हमारे मत में आपके द्वारा प्रदर्शित सुख-दुःख की अव्यवस्था नहीं है।

सि०—वह ठीक नहीं। क्योंकि विशेष-हेतु के अभाव के कारण ही सब आत्माओं की सन्निधि में उत्पन्न होने वाले कार्यकरणसंघात का भी किस प्रकार एक आत्मा के साथ सम्बन्ध (युक्तियुक्त माना जा सकता है; उसका सम्बन्ध तो सभी आत्माओं के साथ होना जाना चाहिये)।

पूर्वपक्ष के पूर्वोक्त मत को अस्वीकृत करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि आप आत्मभेदपक्ष में किसी एक देह से किसी एक आत्मा का सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं कर सकते। क्योंकि यदि समस्त आत्माएं सर्वव्यापक हैं, तो समस्त देह उन समस्त आत्माओं की सन्निधि में ही उत्पन्न होंगे तथा विद्यमान रहेंगे, इस स्थिति में किसी विशेष-हेतु के अभाव में किसी एक देह का किसी एक ही आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं बतलाया जा सकता।

पू०—जिस (आत्मविशेष) के कर्म के कारण (जिस) कार्यकरणसंघात की उत्पत्ति हुई है, उसी आत्मा का वह कार्यकरणसंघात है, इस प्रकार विशेषहेतु विद्यमान है; ऐसा कहा जाये, तो?

पूर्वोक्त दोष का वारण करने के लिये पूर्वपक्ष विशेषहेतु प्रस्तुत करता है तथा आत्मविशेष का देहविशेष के साथ सम्बन्ध दिखाने का प्रयत्न करता है—जिस आत्मविशेष के पुण्य-अपुण्य अथवा शुभाशुभ कर्मों के कारण जिस देहविशेष की उत्पत्ति होती है, वह देहविशेष उसी आत्मा से सम्बद्ध रहता है, शेष आत्माओं से नहीं। इस प्रकार सम्बन्ध की सिद्धि तथा व्यवस्था हो जाने पर सुख-दुःखादि की व्यवस्था भी हो जायेगी।

न, कर्मणोऽपि सर्वात्मसन्निधावुत्पद्यमानस्य सर्वात्मसम्बन्धित्वेन तज्जनितकार्यकरणसंघातस्यापि सर्वात्मसंबंधित्वात्तज्जनितस्य सुखदुःखादेरपि सर्वात्मसम्बन्धित्वमिति सुखादिकस्य नानात्मपक्ष एव न व्यवस्थितिः। पूर्वपूर्वकार्यकरणसंघातस्य कमापेक्षायां चानवस्थादोषः। अनादित्वेनानवस्थादोष-परिहारश्चान्धपरम्परेति। श्रुतिरपि नानात्मपक्षं प्रतिषेधति–"नेह नानास्ति किञ्चन" (क० २-४-११) इति। अतः साधूक्तमेकमिति। ३।

नन्वेवं सत्यात्मनः सुखदुःखादिसम्बन्धाभावाद्बन्धो नास्ति; बन्धाभावाच्च

सि०–नहीं। सब आत्माओं की सन्निधि में उत्पन्न होने वाला (शुभाशुभ) कर्म भी सब आत्माओं से सम्बद्ध ही होगा (एक ही आत्मा से कैसे?)। अतः उस (शुभाशुभ कर्म) से उत्पन्न कार्यकरणसंघात के भी समस्त आत्माओं के साथ सम्बद्ध होने के कारण उस (कार्यकरणसंघात) से उत्पन्न सुख-दुःख आदि भी समस्त आत्माओं से सम्बद्ध होंगे; अतः (आपके) अनेक-आत्म-पक्ष में ही सुखादि की व्यवस्था नहीं होती (हमारे पक्ष में तो हो जाती है)।

सिद्धान्ती कहते हैं कि कर्म को विशेषहेतु नहीं बतलाया जा सकता, क्योंकि उसके साथ भी पूर्वोक्त समस्या विद्यमान ही है। यदि आत्माएं अनेक तथा सर्वव्यापक हैं, तो उत्पन्न होने वाला कर्म भी समस्त आत्माओं की सन्निधि में ही उत्पन्न होगा, तथा इस प्रकार वह समस्त आत्माओं से सम्बद्ध भी होगा। अतः इस पक्ष में किसी भी प्रकार से अव्यवस्था का वारण किया ही नहीं जा सकता, सुखादि की व्यवस्था केवल हमारे मत से ही सम्भव है।

तथा पूर्वपूर्व कार्यकरणसंघात को (अपनी उत्पत्ति के लिये) कर्म की अपेक्षा पड़ने पर अनवस्था दोष भी आयेगा। अनादि मान कर अनवस्था दोष का परिहार करना अन्धपरम्परा होगी।

पूर्वोक्त दोष के अतिरिक्त दोष प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि यदि कार्यकरणसंघात को उत्पन्न होने के लिये कर्म की अपेक्षा होगी, तो पुनः कर्म को उत्पन्न होने के लिये कार्यकरणसंघात की अपेक्षा होगी, पुनः इस कार्यकरणसंघात को कर्म की अपेक्षा होगी, इस प्रकार आपका मत अनवस्थादोषग्रस्थ भी है।

(इसके अतिरिक्त) श्रुति भी अनेकात्मपक्ष का प्रतिषेध ही करती है–"यहाँ कुछ भी नाना नहीं है"। अतः ठीक ही कहा है कि (वह आत्मा) एक है। ३।

पू०–यदि ऐसा है तो सुख-दुःखादि के साथ सम्बन्ध न होने के कारण आत्मा का बन्धन नहीं है। तथा बन्धन का अभाव होने के कारण मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा, क्योंकि

यथा दर्पणाभाव आभासहानौ मुखं विद्यते कल्पनाहीनमेकम्।
तथा धीवियोगे निराभासको यः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा। ४।

(ज्ञान हो जाने पर अद्वितीय आत्मतत्त्व की अवस्थिति तथा शेष नाम-रूपाद्यात्मक प्रपञ्च के प्रविलय का दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण)

जिस प्रकार दर्पण का अभाव हो जाने पर आभास (मुखप्रतिविम्ब) की हानि हो जाने पर कल्पना (मिथ्याज्ञान) से रहित एक मुख ही विद्यमान रह जाता है। उसी प्रकार बुद्धि का वियोग हो जाने पर जो प्रतिविम्व से रहित रह जाता है, वह नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ। ४।

बुद्धि ही वह दर्पण है, जिसमें नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, जिसके कारण अज्ञानियों को आत्मा तथा परमात्मा का भेद भासता रहता है। वेदान्त-निदिध्यासन के उपरान्त ज्ञान हो जाने पर अज्ञान के कार्यभूत बुद्ध्यादि समस्त अनात्म-प्रपञ्च अज्ञानरूप कारण के लीन हो जाने से आत्मा में ही लीन हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धिरूप दर्पण का अभाव हो जाने पर जीवरूप काल्पनिक प्रतिविम्व का भी अभाव हो जाता है तथा एक अद्वितीय आत्मतत्त्व शेष रह जाता है– "पूर्णमेवावशिष्यते" पूर्ण आत्मतत्त्व ही शेष रह जाता है।

मोक्षाभावः, बद्धो हि मुच्यते, नावद्ध इति; तथा चिदाभासस्यापि बन्धमोक्षौ न विद्येते, अवस्तुत्वात्; तस्य बुद्धेरपि विनाशित्वाद्बन्धमोक्षयोरभावः; ततश्च मोक्षशास्त्रमनर्थकमापन्नमित्यत आह–

यथेति। यथा दर्पणाभावे सत्याभासस्य मुखप्रतिबिम्वस्य हानौ सत्यां मुखं

बद्ध ही मुक्त होता है, अवद्ध नहीं। तथा चित्प्रतिविम्व को भी बन्धन व मोक्ष नहीं होगा, क्योंकि (वह चित्प्रतिविम्ब) वास्तविक नहीं है। (यदि कहो कि वन्ध तथा मोक्ष बुद्धि को होता है, तो) विनाशी होने के कारण उस (चित्प्रतिविम्व) की बुद्धि के भी वन्ध तथा मोक्ष का अभाव है; फलतः मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र अनर्थक हो जायेगा। इस पर कहते हैं–

पूर्वपक्षी का भाव यह है कि आपके मत से यदि आत्मा सुखादि से असम्बद्ध है, तो फिर आत्मा का वन्धन तो कभी संभव ही न होगा। क्योंकि इस स्थिति में तो आत्मा नित्यमुक्त हो जायेगा। पुनः इस संसार-वन्धन से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाले समस्त मोक्ष-शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे (इस पर सिद्धान्त-पक्ष की ओर से यही कहा जायेगा कि हम आत्मा को तो वस्तुतः नित्यमुक्त मानते ही हैं। परन्तु ऐसा मान लेने पर मोक्ष-शास्त्र अनर्थक नहीं हो जाते, क्योंकि उनका उद्देश्य तो केवल आत्मा के काल्पनिक बन्धन की निवृत्ति कराना है, वास्तविक वन्धन की नहीं)।

सि०–जिस प्रकार दर्पण का अभाव हो जाने पर आभास अर्थात् मुख-प्रतिबिम्ब का

मनश्चक्षुरादेर्वियुक्तः स्वयं यो मनश्चक्षुरादेर्मनश्चक्षुरादिः।
मनश्चक्षुरादेरगम्यस्वरूपः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा। ५।

(आत्मा का समस्त आन्तर तथा बाह्यकरणों से अतीतत्व)

जो स्वयं मनआदि (अन्तःकरण) तथा चक्षुरादि (दश इन्द्रियों) से पृथक् है, मन-चक्षुआदि का भी मन-चक्षुआदि है तथा जिसका स्वरूप मन-चक्षुआदि के द्वारा अवोध्य है, वह नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ। ५।

परमार्थसत् कल्पनाहीनं मिथ्याज्ञानरहितमेकमेव परं नापरं विद्यते, तथा तेनैव प्रकारेण धीवियोगे बुद्धेरभावे निराभासकोऽप्रतिबिम्बः परमार्थतः सन्नेक एव यः, सोऽहमात्मेति योजना। अयमभिप्रायः—आत्माज्ञानकृतोऽयं बुद्ध्यादिप्रपञ्चः। तत्र बुद्ध्यादौ प्रतिबिम्बरूपेणात्मानमध्यस्य तद्गतसुखदुःखादिकमात्मन्यध्यस्यति। सोऽयमध्यासो बन्धः। आत्मज्ञानेनाज्ञाननिवृत्त्या बुद्ध्यादिप्रपञ्चनिवृत्तावध्यासनिवृत्तिर्मोक्षः। न पुनः पारमार्थिकौ बन्धमोक्षावस्य विद्येते इति सर्वं समञ्जसमिति। ४।

नाश हो जाने पर कल्पना अर्थात् मिथ्याज्ञान से रहित तथा वास्तविक सत्ता वाला मुख ही रह जाता है, दूसरा विद्यमान नहीं रहता; उसी प्रकार धी का वियोग हो जाने पर अर्थात् वुद्धि का अभाव हो जाने पर निराभासक अर्थात् प्रतिविम्व से रहित परमार्थतः सत् एक ही जो रह जाता है, वह आत्मा मैं हूँ; इस प्रकार (पदों की) योजना (समझ लेनी चाहिये)।

अभिप्राय यह है कि यह समस्त वुद्धिआदि प्रपञ्च आत्मविषयक अज्ञान का ही कार्य है। वहाँ बुद्ध्यादि में प्रतिविम्बरूप से आत्मा का अध्यास करके उस (बुद्धि आदि) में स्थित सुख-दुःखादि का आत्मा में अध्यास हो जाता है। यह अध्यास ही वन्धन है। आत्मज्ञान के द्वारा (आत्मविषयक) अज्ञान की निवृत्ति होने से वुद्धि आदि प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाने पर अध्यास की निवृत्ति हो जाना ही मोक्ष है। पुनः इस आत्मा के पारमार्थिक वन्धन तथा मोक्ष नहीं होते (ये तो हमें अभीष्ट ही हैं, अतः भगवान् गौडपादाचार्य माण्डूक्यकारिकाओं में कहते हैं—"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न वद्धो नच साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता" २-३२, न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न कोई वद्ध है, न कोई साधक है, न कोई मुमुक्षु है, तथा निश्चय ही कोई मुक्त नहीं है; यही पारमार्थिक सत्य है); इस प्रकार सव कुछ तर्कसंगत ही है। ४।

यहाँ दो वाक्यों के अन्तर्गत श्रुतिसम्मत-अद्वैतवेदान्त-सिद्धान्त को अभिमत वन्ध तथा मोक्ष का स्वरूप स्पष्ट किया गया है, जो गहन निदिध्यासन का विषय है।

वह आत्मतत्त्व मन-चक्षु आदि के भी अन्तः स्थित होने के कारण तथा उनका भी साक्षी व नियन्ता होने के कारण उनसे भिन्न तथा विलक्षण है। मन की मनन-सामर्थ्य उस सर्वसमर्थ आत्मा के कारण ही है, इसी प्रकार चक्षु की दर्शन-सामर्थ्य भी उस आत्मतत्त्व के कारण ही है, इसी प्रकार शेष करणों के विषय में समझना चाहिये। अतः श्रुति भगवती उसे मन का भी मन तथा चक्षु का भी चक्षु बतला रही है–"मनसो मनः...चक्षुषश्चक्षुः" (वह आत्मतत्त्व मन का भी मन...चक्षु का भी चक्षु है; केनो० २-२)। भाव यही है कि चक्षु आदि के अन्तर्गत जो अपने-अपने विषयों को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य है, वह उस चैतन्य स्वयंप्रकाश सर्वान्तर्यामी आत्मतत्त्व के कारण ही है। इसी प्रकार मन भी उस चैतन्यज्योति के द्वारा प्रकाशित होकर ही अपने विषयों का सङ्कल्प करने में समर्थ हो पाता है। इन श्रुतिवाक्यों का भी यही भाव है–"आत्मनैवायं ज्योतिषा...कर्म कुरुते" (सब बाह्यज्योतियों के विलीन हो जाने पर पुरुष आत्मज्योति से ही सब कर्म करता है; बृ० ४-३-६) "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (उसी परमात्मतत्त्व के प्रकाश से ही ये सब सूर्यादि प्रकाशित हो रहे हैं; का० २-२-१५) "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" (जिस तेजःस्वरूप आत्मा से इन्धन प्राप्त कर यह सूर्य तप रहा है) इत्यादि। परन्तु इसके साथ उन मन आदि का आत्मस्वरूप होने के कारण वह उनके द्वारा अगम्य है अर्थात् अचिन्त्य तथा अतिसूक्ष्म होने के कारण वह इनका विषय ही नहीं बन पाता। यही उस परमात्मतत्त्व का वास्तविक स्वरूप है–"यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि" (जिसे मन से मनन नहीं किया जा सकता अर्थात् जो मन का विषय नहीं बनता, परन्तु जिसके द्वारा मन भी मनन कर लिया जाता है अर्थात् मन भी जिसका विषय बन जाता है, उसी आत्मतत्त्व को तुम ब्रह्म जानो; के० १-५)।

केचिद् बुद्ध्यादीनामात्मत्वं मन्यन्ते; तान्प्रत्याह–

मनश्चक्षुरादेरिति। मनश्चक्षुरादेः मनआदेः चक्षुरादेश्च वियुक्तः पृथग्भूतः यः, सोऽहमात्मेति सम्बन्धः। मनश्चक्षुराद्युपादानेन तदन्तर्गतत्वाच्छरीरमप्युपात्तं द्रष्टव्यम्। एतेन शरीरादपि वियुक्त इति लक्ष्यते। तथा च गुरुः–'बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्न आत्मा विभुर्ध्रुवः। नानारूपः प्रतिक्षेत्रमात्मा वृत्तिषु भासते' इति। कथं मनश्चक्षुरादिकस्य प्रकाशकस्योपरि अयमात्मा प्रकाशकः? मनआदेः चक्षुरादेः कथं वियुक्तः? इत्यत

कुछ बुद्ध्यादि को आत्मा मानते हैं, उनके प्रति कहते हैं–

मन आदि (अन्तःकरण) तथा चक्षुरादि (बाह्यकरणों) से वियुक्त अर्थात् पृथक् जो आत्मा है, वह मैं हूँ; ऐसा सम्बन्ध है। मन तथा चक्षु आदि के ग्रहण से (इन मन आदि के) उस (शरीर) के अन्तर्गत विद्यमान होने के कारण शरीर का भी ग्रहण समझना चाहिये। इससे '(वह आत्मा) शरीर से भी वियुक्त है' यह लक्षित होता है। गुरु भी कहते हैं–"आत्मा ज्ञानेन्द्रिय तथा शरीर से भिन्न, सर्वव्यापक तथा नित्य है। वह आत्मा (वस्तुतः एक होता हुआ भी) प्रतिक्षेत्र (प्रतिशरीर) में वृत्तिओं के अन्तर्गत नाना भासित होता रहता है"। (समस्त जगत् के) प्रकाशक मन तथा चक्षु आदि के ऊपर भी यह आत्मा किस प्रकार

आह–स्वयमिति। स्वयं य आत्मा मनश्चक्षुरादेः मनश्चक्षुरादिः, मनश्चक्षुरादिकस्य प्रकाशकस्य मनश्चक्षुरादिः प्रकाशकः, प्रकाशकत्वगुणयोगात्। अयमर्थः–यथा बाह्यस्य घटादेः प्रकाशको मनश्चक्षुरादिः ततो व्यतिरिच्यते, तथाऽऽन्तरस्यापि मनश्चक्षुरादेः प्रकाशक आत्मा ततो व्यतिरिच्यत इति निश्चीयते। अत एव मनश्चक्षुरादीनामनात्मत्वमिति सिद्धं ज्ञेयादन्यो ज्ञाता भवति।

नन्वात्मनोऽपि ज्ञेयत्वादनात्मत्वं प्रसज्यत इत्यत आह–मनश्चक्षुरादेरगम्यस्वरूपः प्रकाशस्वभावः। तथा च श्रुतिः–"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तै० १-४,९) इति। ५।

प्रकाशक है? तथा मन आदि एवं चक्षु आदि से कैसे वियुक्त है? यह कहने जा रहे हैं–स्वयमिति। जो आत्मा स्वयं ही मन तथा चक्षुआदि प्रकाशकों का भी मन तथा चक्षु आदि अर्थात् प्रकाशक है; प्रकाशकत्व गुण से युक्त होने के कारण (ही यह आत्मा उन सव प्रकाशकों से भिन्न है)। यह तात्पर्य है–जिस प्रकार घटादि (समस्त वाह्यपदार्थों) के प्रकाशक मन तथा चक्षु आदि उस (घटादि) से भिन्न होते हैं, इसी प्रकार आन्तरिक मनश्चक्षुरादि का प्रकाशक आत्मा भी उनसे भिन्न है, यह सिद्ध होता है। इसीलिये ही मन तथा चक्षुरादि अनात्मा हैं, यह भी सिद्ध होता है, क्योंकि ज्ञाता ज्ञेय (ज्ञान के विषय) से भिन्न होता है (ऐसा नियम है)।

श्रुति भगवती कहती है–"श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः" (वह परमात्मा श्रोत्र का भी श्रोत्र, मन का भी मन, वाणी का भी वाणी, प्राण का भी प्राण तथा चक्षु का भी चक्षु है; के० १-२) इस प्रकार मन आदि का भी मन आदि वतला कर उस आत्मा को इन सवका अविषय तथा भिन्न बतलाया है–"न तत्र चक्षुर्गच्छति..." (वहाँ चक्षु नहीं जा पाता...; के० १-३) "यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते..." (जो वाणी द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता, परन्तु जिसके द्वारा वाणी भी प्रकाशित होती है...; के० १-४)।

फिर तो आत्मा भी ज्ञेय होने के कारण अनात्मा हो जायेगा? इस पर कहते हैं–उसका स्वरूप मन तथा चक्षु आदि से अगम्य (अज्ञेय) है, वह स्वयंप्रकाश स्वभाव वाला है (अतः उसको अपने प्रकाशित होने के लिये अन्य किसी के ज्ञानात्मक प्रकाश की आवश्यकता नहीं है, जिसका वह विषय वने। अतः वह ज्ञेय नहीं है; यह भाव है)। श्रुति भी कहती है–"जहाँ से (उसे) प्राप्त किये विना ही वाणी मन के साथ लौट आती है"। ५।

भाव यही है कि आत्मा का साक्षात्कार घटादि पदार्थों के समान ज्ञेयत्वेन अर्थात् ज्ञानविषयत्वेन नहीं होता है, अपितु विषयित्वेन (साक्षित्वेन) होता है। क्योंकि परमार्थतः ज्ञातृतत्त्व आत्मा से भिन्न कोई ज्ञाता न होने के कारण वह किसका ज्ञेय अर्थात् किस ज्ञाता के ज्ञान का विषय होगा। भगवान् याज्ञवल्क्य

य एको विभाति स्वतःशुद्धचेताः प्रकाशस्वरूपोऽपि नानेव धीषु।
शरावोदकस्थो यथा भानुरेकः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा। ६।

(आत्मा के एक होते हुए भी आध्यासिक जीव-नानात्व का दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण)

जो प्रकाशस्वरूप तथा शुद्धविज्ञानस्वरूप (आत्मतत्त्व) एक होता हुआ भी (नाना) बुद्धियों में स्वतः ही अनेक-सा प्रकाशित होता है; जिस प्रकार सूर्य (वस्तुतः) एक होता हुआ भी अनेक कसोरों के जल में स्थित (अनेक-सा प्रकाशित होता है); वह नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ। ६।

इस श्लोक के अन्तर्गत आत्मा के वस्तुतः एक होने पर भी जगत् में प्रत्यक्षतःदृश्यमान

ननु यद्यात्मा मनश्चक्षुरादेरगम्यः, कथं तर्हि तस्य सिद्धिः? घटपटादयो हि मनश्चक्षुराद्यधीनसिद्धयो दृष्टाः। तत आत्मनोऽपि तदधीनसिद्धिर्युक्ता। यदा तस्य तदधीना सिद्धिर्न भवति, तदाऽस्य सिद्धिरेव न स्यात्, शशविषाणवदित्यत आह—

के श्रुतिवाक्य "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (अरे! इस सम्पूर्ण जगत् के विज्ञाता को किससे जाने?) का यही भाव है। ज्ञाता होने के कारण ही केनश्रुति उसे ज्ञात तथा अज्ञात से पर तथा भिन्न बतलाती है— "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" (वह विदित से भी सर्वथा भिन्न है तथा अविदित से भी पर है; १-३)। अतः भगवान् भाष्यकार विषयत्वेन ब्रह्मज्ञान को सम्यग्ज्ञान ही स्वीकार नहीं करते—"तदेव सम्यग्ज्ञानं यत्प्रत्यगात्मविज्ञानं न विषयविज्ञानम्" (अन्तरात्मा रूप में जानना ही ब्रह्म का सम्यग्ज्ञान है, विषय रूप से जानना नहीं; के०उ०वा०भा० २-४)। विषयत्वेन ज्ञान परोक्षज्ञान तो हो सकता है, परन्तु अविद्या-आवरण तथा संसारदुःख का विनाशक अपरोक्षज्ञान नहीं। वस्तुतः आत्मा आदित्य के समान स्वयंप्रकाशस्वरूप है, अतः जिस प्रकार आदित्य चाक्षुषवृत्ति में विना किसी प्रकाशान्तर का विषय बने ही प्रकाशित होता है (जबकि घटादि पदार्थों को चाक्षुषवृत्ति में प्रकाशित होने के लिये प्रकाशान्तर की आवश्यकता होती है), इसी प्रकार वह नित्यविज्ञानस्वरूप परमात्मतत्त्व "तत्त्वमसि" (वह तुम्हीं हो) इस वाक्य के श्रवण से जन्य बुद्धिवृत्ति में विना चित्स्वरूप प्रत्यगात्मा का विषय बने ही साक्षिरूप से प्रकाशित होता है, फिर "अहं ब्रह्मास्मि" (मैं ब्रह्मतत्त्व हूँ) इस आकार की वृत्ति वन जाती है (जबकि शेष अनात्मपदार्थ चित्स्वरूप साक्षी आत्मा का विषय वन कर ही प्रकाशित होते हैं)। इस प्रकार श्रुतिसम्मत वेदान्त-दर्शन के अन्तर्गत स्वयं ज्ञानस्वरूप होने के कारण आत्मा को ज्ञेय नहीं माना जाता, जिस प्रकार प्रकाशस्वरूप आदित्यादि को प्रकाश्य नहीं माना जाता।

परन्तु यदि वह आत्मतत्त्व मनश्चक्षुरादि का अविषय है, तो फिर इसकी सिद्धि कैसे होगी? क्योंकि घट-पटादि (समस्त पदार्थों) की सिद्धि मनश्चक्षुरादि के अधीन ही देखी जाती है। अतः आत्मा की सिद्धि भी उन (मन आदि) के अधीन मानना ही उचित है। यदि उस (आत्मा) की उन (मन आदि) के अधीन सिद्धि नहीं हो सकती, तो खरगोश के शृङ्ग के समान इस आत्मा की सिद्धि हो ही नहीं सकती; इस पर कहते हैं—

अध्यासकृत जीव-नानात्व का दृष्टान्तोपन्यास-पूर्वक उपपादन किया गया है। जिस प्रकार स्वयंप्रकाश सूर्य (यहाँ यह ध्यान रखें कि सूर्य केवल व्यावहारिकस्तर पर ही स्वयंप्रकाश है, वस्तुतः तो वह एकमात्र स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व द्वारा प्रकाश्य होने के कारण परतःप्रकाश्य ही है–"तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" उसी प्रकाशमान आत्मतत्त्व से सब सूर्य-चन्द्रादि प्रकाशित होते हैं) वस्तुतः आकाश में एक होते हुए भी अनेक कसोरों के जल में प्रतिबिम्बित होकर अनेक-सा प्रतीत होता है तथा यदि कोई व्यक्ति सूर्य के वास्तविक एकत्व के भान से रहित होगा, तो वह इन प्रतिबिम्बों के बिम्बभूत सूर्य को भी अनेक ही समझेगा। इसी प्रकार शुद्धविज्ञानस्वरूप (अर्थात् शुद्धचैतन्यस्वरूप) स्वयंप्रकाश आत्मा वस्तुतः एक होता हुआ भी अनेक बुद्धियों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक-सा प्रतीत होता है तथा आत्मा के एकत्व-ज्ञान से रहित अज्ञानियों को नाना ही दीखता रहता है। परन्तु इस उपाधिकृत अनेकत्व से उसके वास्तविक एकत्व का बाध नहीं होता। इस प्रकार आत्मा का एकत्व सिद्ध हो गया। परन्तु आत्मा के इस वास्तविक एकत्व का भान न होने के कारण अज्ञानियों को जगत् में नानात्व का भान होता रहता है तथा वे उन नाना पदार्थों के पीछे मृगतृष्णिका में भ्रान्त मृग की भाँति भागते रहते हैं तथा कुछ भी प्राप्ति न होने पर शोक-मोहादि से ग्रस्त होकर दुःखी होते रहते हैं–"एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति" (इस प्रकार अज्ञानी पृथक्-पृथक् धर्मों को देख कर उनके पीछे दौड़ता रहता है)। जबकि इस एकत्व का साक्षात्कार हो जाने पर नानात्व-भ्रम का निरास हो जाता है–"नेह नानास्ति किञ्चन" (इस आत्मतत्त्व में नाना कुछ नहीं है)। इस अद्वैत-तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर अभयपद प्राप्त हो जाता है–"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन...कदाचन" (आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जानने वाला कभी भी किसी से नहीं डरता); क्योंकि भय द्वैत में ही होता है–"द्वितीयाद्वै भयं भवति" (निश्चय ही भय द्वितीय से ही होता है)।

य इति। य इति स्वतःसिद्धतामाह। एकोऽद्वितीयः विभाति विशेषेण प्रकाशते; स्वतः स्वयमेव न परतः शुद्धं निर्मलं चेतो मनो यस्य सः स्वतःशुद्धचेताः; शुद्धचित्तस्य ह्यात्मा स्वयमेव स्फुरतीत्यर्थः। अत एव सत्त्वशुद्ध्यर्थं वेदेऽपि वेदानुवचनादयो विहिताः–"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति।

(इस षष्ठश्लोक द्वारा आत्मा की) स्वतःसिद्धता को बतलाते हैं। एक अर्थात् अद्वितीय (परमात्मा) विशेष रूप से प्रकाशित होता है। स्वतः अर्थात् स्वयं ही, परतः नहीं, शुद्ध अर्थात् निर्मल चित्त अर्थात् मन है जिसका, वह स्वतःशुद्धचेताः कहलाता है; शुद्धचित्त (पुरुष) को आत्मा का स्फुरण स्वयं ही होता है; यह अर्थ है। अत एव चित्त की शुद्धि के लिये वेद में वेदानुवचन आदि का विधान किया गया है–"इस तत्त्व को ब्राह्मण वेदानुवचन, यज्ञ, दान तथा अनाशक तप से जानने की इच्छा करते हैं" (बृ० ४-४-२२)।

श्रुति का भाव यही है कि वेदानुवचन का अनुष्ठान कर लेने पर जब ब्राह्मण का चित्त शुद्ध हो जाता है, तब उसके अन्तर्गत ब्रह्मजिज्ञासा का उदय होता है। यज्ञादि से चित्त की शुद्धि होती है, इसमें अन्य श्रुति-स्मृतिप्रमाण इस प्रकार हैं–"देवयाजी श्रेयानात्मयाजी वा? ...आत्मयाजी तु करोतीदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते" (देवता के उद्देश्य से यजन करने वाला श्रेष्ठ है, अथवा आत्मा के उद्देश्य से यजन करने

घटपटादयश्च जडत्वात्प्रकाशान्तरापेक्षत्वाच्च न प्रकाशन्त इति युक्तम्। आत्मा तु प्रकाशस्वरूपत्वात्प्रकाशान्तरानपेक्षः प्रकाशते सवितृवत्—यथा सविता स्वप्रकाशः प्रकाशान्तरं नापेक्षते, अथ च प्रकाशते; तद्वदात्माऽपीति भावः। एवमुत्पन्नात्मज्ञानोऽद्वयो जीवन्मुक्तः स्वयं प्रकाशरूपोऽपि परमार्थतो नानाविधासु धीषूपाधिषु नानेव भाति यः, सोऽहमात्मेति सम्बन्धः। शरावोदकेषूपाधिष्ववस्थितो भानुः आदित्यः प्रकाशस्वरूपोऽप्येक एव सन् नानेव भाति, तद्वदात्माऽपीति भावः।

वाला? ...आत्मा के उद्देश्य से यजन करने वाला तो यही समझता है कि इस कर्म के द्वारा मेरे अन्तःकरण आदि अङ्ग शुद्ध हो रहे हैं) "महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः" (महायज्ञ तथा यज्ञों के द्वारा यह शरीरस्थ अन्तःकरण ब्रह्मज्ञान के योग्य बनाये जाते हैं) "यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्" (मनीषी अर्थात् भगवदर्पण-भावना से कर्म करने वालों के लिये यज्ञ, दान तथा तप पवित्र करने वाले होते हैं)।

यद्यपि यहाँ पर भाष्यकार ने 'शुद्धचेताः' पद का अर्थ 'शुद्धमन वाला' किया है, परन्तु हमें यह सर्वथा अयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि इस स्थिति में यह साधक का विशेषण तो हो सकता है, परन्तु आत्मा का नहीं। जबकि यहाँ पर यह स्पष्ट ही आत्मा का विशेषण है। इसके अतिरिक्त 'शुद्धचेताः' के साथ 'स्वतः' का अन्वय भी हमें अनुचित प्रतीत होता है, अपितु 'विभाति' के साथ ही उचित प्रतीत होता है। हमारे मत से यहाँ 'शुद्धचेताः' पद का अर्थ 'शुद्धविज्ञानस्वरूप' मानना ही उचित है। विस्तार के लिये काठक० २-२-१ में आत्मा के लिये प्रयुक्त 'अवक्रचेतसः' विशेषण का भाष्य देखना चाहिये— "अवक्रमकुटिलमादित्यप्रकाशवन्नित्यमेवावस्थितमेकरूपं चेतो विज्ञानमस्येत्यवक्रचेताः" (अवक्र अर्थात् अकुटिल, आदित्य के प्रकाश के समान नित्य ही अवस्थित तथा एकरूप चेतः अर्थात् विज्ञान है जिसका, उसे अवक्रचेताः कहते हैं)। लिपिकार का ही कुछ प्रमाद प्रतीत होता है।

घट-पटादि (पदार्थ) जड तथा प्रकाशान्तर की अपेक्षा से युक्त होने के कारण (स्वतः) प्रकाशित नहीं होते, यह युक्तियुक्त है। परन्तु आत्मा तो प्रकाशस्वरूप होने के कारण प्रकाशान्तर की अपेक्षा से रहित होने के कारण सूर्य के समान (स्वतः ही) प्रकाशित होता है; भाव यह है कि जिस प्रकार सूर्य स्वप्रकाश होने के कारण प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं रखता, फिर भी प्रकाशित होता रहता है, उसी प्रकार आत्मा भी (समझना चाहिये)। इस प्रकार आत्मज्ञान जिसको उत्पन्न हो गया है, जो अद्वय तथा जीवन्मुक्त परमार्थतः स्वयं प्रकाशस्वरूप होता हुआ भी नाना प्रकार की बुद्धिरूप उपाधियों में नाना ही प्रतीत होता है, वह आत्मा मैं हूँ; इस प्रकार (श्लोकोक्त पदों का) सम्बन्ध है। जिस प्रकार कसौरे में स्थित जल रूप उपाधि में अवस्थित सूर्य प्रकाशस्वरूप एक होता हुआ भी नाना जैसा प्रतीत होता है, इसी प्रकार आत्मा (के विषय में) भी (समझना चाहिये); यह भाव है।

ननु कथं जीवन्मुक्तः? देहवांस्तावज्जीवन्नित्युच्यते; तस्य जीवतोऽपि यदि देहाभावो मुक्तिरभिप्रेयते, नासावुपपद्यते, विरोधात्। न हि जीवतो देहाभावः संभवति। अथ सत्यपि देहे भोगविच्छेदो मुक्तिरिति; तदपि न चतुरश्रम्; सकलभोगकारणेन्द्रियसम्पत्तौ भोगविच्छेदस्याऽसंभावितत्वात्।

मिथ्याज्ञाननिवन्धनो हि भोगः, तस्य च सम्यग्ज्ञानेन निवृत्तत्वाद्भोगविच्छेद इति चेत्?

न, वाधितस्यापि मिथ्याज्ञानस्य द्विचन्द्रादिज्ञानवदनुवृत्त्यभ्युपगमात्। अन्यथा देहवानेव न स्यात्। अत एव विदुषां जनकादीनां राज्यादिकं श्रूयते। श्रुतिरपि देहवतो भोगविच्छेदं प्रतिषेधति—"न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" (छा० ८-

---

(जीवन्मुक्ति की सिद्धि)

पू०—जीवन् (अर्थात् जीवित रहते हुए) मुक्त कैसे हो सकता है? देहवान् पुरुष ही तो 'जीवन्' ऐसा कहा जाता है। यदि उस जीवित की भी देहाभावरूप मुक्ति मानी जायेगी, तो वह सम्भव ही नहीं है; क्योंकि (दोनों स्थितिओं में) परस्पर विरोध है। क्योंकि जीवित पुरुष के देह का अभाव हो जाना सम्भव नहीं है। यदि देह के विद्यमान रहने पर भी भोगों का विच्छेद हो जाना (अर्थात् सुख-दुःखादि द्वन्द्वों का साक्षात्कार न होना) मुक्ति है, ऐसा (आप मानते हैं); तो वह भी उपयुक्त नहीं है; क्योंकि सब भोगों की कारणभूता इन्द्रियाँ प्राप्त रहने पर भोग का विच्छेद होना असंभव है।

(इस पर सिद्धान्ती का एकदेशी समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है—) भोग मिथ्याज्ञान के ही अधीन है, उस (मिथ्याज्ञान) की सम्यग्ज्ञान से निवृत्ति हो जाने के कारण भोग-विच्छेद हो जाता है, यदि ऐसा कहें तो?

पू०—नहीं, क्योंकि वाधित मिथ्याज्ञान की अनुवृत्ति स्वीकार की जाती है, (चन्द्रमा के एकत्वज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान से वाधित) द्विचन्द्रादिज्ञान के समान। अन्यथा (मिथ्याज्ञान की अनुवृत्ति को स्वीकार न करने पर वह ज्ञानी) देहवान् ही नहीं रहेगा। यही कारण है कि ब्रह्मज्ञ जनकादि का भी राज्य आदि सुना जाता है। श्रुति भी देहवान् पुरुष के भोग-विच्छेद का प्रतिषेध करती है—"सशरीर (जीव) के प्रिय तथा अप्रिय का अपघात नहीं होता है (अर्थात् शरीर के रहते-रहते ये दोनों द्वन्द्व अवश्य ही सताते हैं, इन दोनों को अन्य शीतोष्ण-मानापमान

१२-१) इति। तस्मादयुक्ता जीवन्मुक्तिरिति।

अत्रोच्यते–जीवतस्तावत्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते, नतु मृतस्य; शमदमादेः श्रवणमननादेश्च ज्ञानहेतोः मृतस्यासंभवात्।

आदि द्वन्द्वों का भी उपलक्षण समझना चाहिये)। अतः जीवित रहते मुक्ति अयुक्त है।

पूर्वपक्षी का भाव यह है कि मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान से बाधित तो हो जाता है, पर जीवितावस्था में उसकी अनुवृत्ति होती रहती है। उदाहरणार्थ मृगमरीचिका के मिथ्यात्वज्ञान से उसमें सत्यत्वबुद्धि तो बाधित हो जाती है, अतः उसके पीछे भागना बन्द हो जाता है, परन्तु उसके उपरान्त भी आँखों से देखने पर मृगमरीचिका दीखती ही रहती है। यहाँ प्रस्तुत उदाहरण का भाव है कि किसी व्यक्ति को आँखों में तिमिर दोष होने के कारण एक चन्द्रमा दो दिखायी देता है, यद्यपि 'चन्द्रमा एक ही होता है' इस प्रकार का सम्यग्ज्ञान द्रष्टा को है, तथापि चन्द्रमा का द्वित्व दीखता ही रहता है। इसी प्रकार यद्यपि सम्यग्ज्ञान से मिथ्याज्ञान बाधित हो जाता है, तथापि वह बाधित मिथ्याज्ञान भी रहा आता है। अन्यथा तो मिथ्याज्ञान की अनुवृत्ति न मानने पर ज्ञानी का देह ज्ञान उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाना चाहिये, क्योंकि वह भी मिथ्याज्ञान का ही कार्य है। फिर जनक-अश्वपति आदि ब्रह्मज्ञानी राजाओं का राज्य करना सम्भव ही न हो सकेगा। श्रुति भी इसमें प्रमाण हैं। उस बाधित मिथ्याज्ञान की सर्वथा निवृत्ति तो देह-विच्छेद के बाद ही हो सकती है। ऐसा पूर्वपक्षी का मत है।

सि०–इस पर कहा जाता है–जीवित (पुरुष) को ही तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो सकता है, मृत को नहीं; क्योंकि शम-दम आदि तथा श्रवण-मनन आदि ज्ञान के हेतु मृत में संभव नहीं हैं।

यहाँ हेतु का तात्पर्य साधन है। "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" इस शतपथब्राह्मणश्रुति के अन्तर्गत शमादि को आत्मदर्शन का साधन कहा गया है। शम–मनोनिग्रह; दम–इन्द्रियनिग्रह; उपरति–संन्यास; तितिक्षा–शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहन करने की सामर्थ्य; समाहित–समाधि में अवस्थित रहना; श्रद्धा–परमात्मा, वेदभगवान् तथा गुरुदेव के वचनों में निष्ठा रखना। ये ही षट्सम्पत्तियाँ भी कहलाती हैं। आदिशब्द से विवेक, वैराग्य तथा मुमुक्षा का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। इनको वेदान्त में साधनचतुष्टय कहा जाता है। ये ब्रह्मजिज्ञासा के प्रति साधन होने से ब्रह्मज्ञान के प्रति परम्परया साधन हैं। ब्रह्मजिज्ञासा की उत्पत्ति के उपरान्त "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इस वृहदारण्यकश्रुति के अन्तर्गत श्रवणादि को आत्मदर्शन का साधन कहा गया है। अतः विवरणप्रमेयसंग्रहकार कहते हैं–"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। ज्ञात्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः" श्रुतिवाक्यों से उस आत्मा का श्रवण करना चाहिये, श्रुतिसम्मत तर्कों से उसका मनन करना चाहिये, तथा इस प्रकार जान कर सदा उसका ध्यान करना चाहिये; ये ही दर्शन अर्थात् अपरोक्ष साक्षात्कार के हेतु हैं। श्रवण–वेदान्तवाक्यों का श्रवण करते हुए अद्वय ब्रह्म में उनके तात्पर्य का निश्चय करना। मनन–श्रवण के उपरान्त श्रुतावधारित पदार्थों का युक्तिओं के आधार पर पुनः चिन्तन करके मन में उनके संस्कार को दृढ करना। निदिध्यासन–समाधिकाल में विजातीय देहादि की प्रतीति से रहित अद्वितीय वस्तु परमात्मा के सजातीय प्रत्यय का

अत एव हि विदुषां याज्ञवल्क्यादीनां सन्न्यासः श्रूयते। नच मृतस्य सन्न्यासः श्रूयते संभवति वा। तस्माज्जीवतस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यत इति सिद्धम्। आत्मज्ञानादेव मुक्तिरिति सिद्धा जीवन्मुक्तिः; "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० ३-२-९) "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० २-१) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

ननु ज्ञानस्य मोक्षफलकत्वे श्रुतिषु सहकार्यन्तरं प्रतीयत इति चेत्?

न; ज्ञानमात्रस्य श्रवणात्-"भिद्यते हृदयग्रन्थिः" (मु० २-२-८) इति; "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (शु०य०मा० ३१-१९) इति सहकार्यन्तरप्रतिषेधाच्च।

प्रवाह। इनमें से भामतीकार निदिध्यासन को ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात् कारण तथा शेष को परम्परया कारण मानते हैं, विवरणकार श्रवण को साक्षात् कारण तथा शेष को उसका अङ्ग मानते हैं।

अत एव ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्यादियों का संन्यास सुना जाता है। मृत पुरुष का तो संन्यास (श्रुतियों में) सुना नहीं जाता तथा वह संभव भी नहीं है। अतः जीवित पुरुष को ही तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, यह सिद्ध हुआ। आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है, अतः जीवन्मुक्ति सिद्ध हो जाती है; क्योंकि श्रुतियाँ भी हैं-"निश्चय ही जो उस परम ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है" "ब्रह्मवेत्ता परतत्त्व को प्राप्त कर लेता है"।

जीवन्मुक्ति काठकश्रुति में अत्यन्त स्पष्ट है-"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" जब इस साधक के हृदय में विद्यमान समस्त इच्छाएं समाप्त हो जातीं हैं, तब मर्त्य पुरुष अमृत हो जाता है तथा यहीं ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। यहाँ 'अत्र' शब्द जीवन्मुक्ति में प्रमाण है, क्योंकि यह अत्रशब्द 'इस लोक अथवा इस जन्म' का सूचक है। यहाँ सिद्धान्ती के 'आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है' इस अवधारण पर शङ्का की जाती है-

(मोक्षरूप फल देने के लिये ज्ञान के सहकार्यन्तर का प्रतिषेध)

पू०-मोक्षरूप फल देने के लिये ज्ञान का अन्य सहायक भी तो श्रुतियों में प्रतीत होता है (पुनः आप ये कैसे कहते हो कि आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है)?

सि०-न, (मोक्ष की उपलब्धि कराने के लिये ज्ञान को अन्य किसी सहकारी की आवश्यकता नहीं है), क्योंकि (श्रुति में) ज्ञानमात्र का ही श्रवण होता है-"(अविद्यारूप) हृदयग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो जाती है" तथा "(उस परमात्मा को जान कर ही मृत्यु का अतिक्रमण कर पाता है,) इसकी प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है" इस (श्रुति वाक्य के द्वारा) अन्य किसी सहकारी का प्रतिषेध भी किया गया है।

ननु श्रुतिरेव मरणसहकारिणो ज्ञानान्मोक्षं दर्शयति–"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये" (छा० ६-१४-२) इति?

न; पूर्वोत्पन्नस्य ज्ञानस्य चिरप्रवृत्तत्वान्मरणकाले तस्य सन्निधापयितुमशक्तेः।

तत्कालमेवोत्पन्नाज्ज्ञानान्तरान्मुक्तिरिति चेत्?

न; "यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि" (बृ० २-४-३) इति "आचार्यवान्पुरुषो वेद" (छा० ६-१४-२) इत्यादिश्रुतिपर्यालोचनया प्रथमज्ञानादेव मुक्तेः श्रूयमाणत्वात्। एतेन वचनान्तरमनुगृहीतं भवति–"जीवन्नेव हि विद्वान् हर्षामर्षाभ्यां विमुच्यते" इति। नच "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" इति श्रुत्यन्तरविरोधो वाच्यः, श्रुत्यन्तरस्य सामान्यविषयत्वात्, अत्र 'विद्वान्' इति विशेषनिर्देशात्।

पू०–परन्तु श्रुति ही मरण से सहकृत ज्ञान द्वारा मोक्ष बतलाती है–"उस (तत्त्ववेत्ता) के लिये (मोक्ष की प्राप्ति में) उतनी ही देर है, जब तक वह (प्रारब्धकर्म का उपभोग द्वारा क्षय हो जाने पर देह से) विमुक्त नहीं हो जाता"।

सि०–नहीं, (मरण ज्ञान का सहकारी नहीं हो सकता) क्योंकि पूर्वकाल में उत्पन्न ज्ञान चिरकाल से प्रवृत्त हो चुका है, अतः मरणकाल में उसकी सन्निधि नहीं करायी जा सकती।

पू०–मरणकाल में ही उत्पन्न दूसरे ज्ञान से मुक्ति होती है, ऐसा यदि (माना जाये), तो?

सि०–नहीं, क्योंकि "भगवान् जो (अमृतत्व का साधन) जानते हैं, उसी को मुझे बतलायें" "(उस परमात्मतत्त्व को) आचार्य वाला पुरुष ही जानता है" इत्यादि श्रुतियों की पर्यालोचना करने पर 'प्रथमज्ञान से ही मुक्ति सुनी जाती है' (ऐसा ज्ञात होता है)। इससे एक अन्य वचन भी अनुगृहीत हो जाता है–"जीवित रहते ही विद्वान् हर्ष तथा अमर्ष (ईर्ष्या, द्वेष) से मुक्त हो जाता है"। इसका "निश्चय ही सशरीर विद्यमान पुरुष के प्रिय तथा अप्रिय का त्याग नहीं हो पाता" (छा० ८-१२-१) इस दूसरी श्रुति के साथ विरोध नहीं समझना चाहिये, क्योंकि (यह) दूसरी श्रुति सामान्यविषयक है तथा इस (विद्वान् के हर्षामर्ष से मोक्ष बतलाने वाली श्रुति) में "विद्वान्" ऐसा विशेषनिर्देश किया गया है (अतः यह विशेषविषयक है। इस प्रकार दोनों श्रुतियों में वस्तुतः कोई विरोध नहीं है)।

"तस्य तावदेव चिरम्" (छा० ६-१४-२) इति श्रुतिस्त्यक्ता स्यादिति चेत्?

न, व्यवस्थयोपपत्तेः। तथाहि–मुक्तिः खलु स्वाभाविकी सर्वेषाम्, न सा ज्ञानेन जन्यते। किं तर्हि? अविद्यातिमिरतिरोहिताया मुक्तेः तिमिरमात्रं निराक्रियते। तच्च प्रथमज्ञानेनैव निराकृतम्।

(केनोपनिषद्भाष्य तथा हस्तामलकीयभाष्य में आपाततः प्रतीत होने वाले विरोध का विचार)

यहाँ पर "प्रथमज्ञानादेव मुक्तेः" इस ग्रन्थ में भाष्यकार प्रथमज्ञान से ही मुक्ति मान रहे हैं, जबकि केनोपनिषत्पदभाष्य २-४ में भगवान् भाष्यकार ने "सकृद्विज्ञानं प्रतिबोध इत्यपरे" (एक बार साक्षात्कार अर्थात् प्रथम साक्षात्कार ही अमृतत्व की प्राप्ति का साधन 'प्रतिबोध' है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं) ग्रन्थ में इसे दूसरों का मत बतला कर "सकृद्वाऽसकृद्वा प्रतिबोध एव हि सः" (एक बार अथवा अनेक बार, वह प्रतिबोध ही तो है) इस ग्रन्थ से उस पक्ष में अनादर प्रदर्शित किया है। जिस पर भगवान् आनन्द गिरि ने उस पक्ष में आचार्य की अरुचि का कारण स्पष्ट करते हुए कहा है– "प्रवृत्तफलकर्मप्रतिबन्धाद्वर्तमानप्रमातृत्वाभासानिवृत्तेरसकृद्बोधोऽपि संभवति" (प्रारब्ध-कर्म के प्रतिबन्ध के कारण प्रमातृत्व के आभास की निवृत्ति न हो पाने पर बोध अनेक बार भी हो सकता है)।

यद्यपि इन दो भाष्यों में आपाततः विरोध प्रतीत होता है, परन्तु विचार करने पर विरोध का परिहार हो जाता है। सर्वप्रथम तो यह समझ लेना आवश्यक है कि भाष्यकार ने केनभाष्य में सकृत्पक्ष को अस्वीकृत नहीं किया है, अपितु सकृत्पक्षमात्र को स्वीकार करने वालों के मत में अपनी अरुचि दिखाकर उसको अस्वीकृत किया है। अर्थात् भाष्यकार सकृत्पक्ष तथा असकृत्पक्ष, दोनों को स्वीकार करते हैं, केवल सकृत्पक्ष को नहीं।

अब यहाँ हस्तामलकीय-भाष्य में "प्रथमज्ञान से ही मुक्ति" बतलाते समय "प्रथम"-शब्द की प्रवृत्ति प्रसङ्गानुसार पूर्वपक्षी द्वारा संभावित मृत्युकाल में उत्पन्न होने वाले मुक्तिकारक ज्ञानान्तर अर्थात् द्वितीय ज्ञान की अपेक्षा से कहा है, जीवनकाल में उत्पन्न होने वाले ज्ञानान्तर की अपेक्षा से नहीं (क्योंकि उसका तो यहाँ प्रसङ्ग ही नहीं)। इसी प्रकार 'एव' यह अवधारण भी मृत्युकालीन ज्ञानान्तर का ही व्यावर्तक है, जीवनकालीन ज्ञानान्तर का नहीं। वस्तुतः यहाँ पर "एवं च सति प्राचीनमेव" इत्यादि वक्ष्यमाण परिच्छेद जीवनकालीन ज्ञानान्तर की स्वीकृति का ही सूचक है।

(मुक्ति की स्वभावसिद्धता तथा अविद्या-आवरण का प्रथमज्ञान से ध्वंस)

पू०–फिर भी "उसके लिये उतनी ही देर है" इत्यादि श्रुति का तो त्याग हो ही जायेगा?

सि०–नहीं, क्योंकि व्यवस्था से उसकी भी उपपत्ति हो जायेगी। ऐसा इसलिये है, क्योंकि–(परमार्थतः) सब की मुक्ति स्वाभाविक (स्वभावतः सिद्ध) है, वह ज्ञान से उत्पन्न नहीं होती। फिर क्या? (ज्ञान से) अविद्यारूपी अन्धकार के द्वारा तिरोहित मुक्ति के (आवरणस्वरूप) अन्धकारमात्र का निवारण किया जाता है। वह (अन्धकारात्मक आवरण)

तथाप्यविद्याकार्यस्य देहस्याविनाशात्पुनः पुनः महान्धकारवदुत्सारितमपि तिरस्करोति। तस्य तिरस्कारप्रतिभासस्य देहविच्छेदाद्विच्छेदो भवति। एवं च सति प्राचीनमेव महान्धकारोत्सारणं ज्ञानमात्रनिबन्धनमवतिष्ठते—यथा सूर्योदयेन महातिमिरोत्सारणे कृतेऽपि च्छत्रादिकृतस्य तिमिराभासस्य च्छत्रादिविगमे विगमः। ततश्च प्राचीनमेव महातिमिरोत्सारणं सूर्योदयमात्रनिबन्धनमवतिष्ठत इति। तस्मान्न ज्ञानान्तरान्मुक्तिः, अपितु पूर्वोत्पन्नज्ञानादेव मुक्तिरिति सिद्धम्।

ननु यदि 'पारमार्थिकमद्वैतम्, मिथ्याज्ञानविजृम्भितश्च प्रपञ्चः' इति श्रुत्यर्थोऽवधारितः, तत्कथं सत्यपि बाधके प्रपञ्चानुवृत्तिः? नहि सत्येव शुक्तिकाज्ञाने

प्रथमज्ञान से ही निराकृत हो जाता है (उसके लिये मरणकालीन ज्ञानान्तर की प्रतीक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं है)।

यह ध्यान रखने योग्य विषय है कि वेदान्तदर्शन के अन्तर्गत मुक्ति को स्वर्गादि के समान कार्यरूप फल नहीं मानते, क्योंकि यदि वह फल मानी जायेगी, तो वह 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इस नियम के कारण अनित्य हो जायेगी। अतः मुक्ति को नित्यसिद्ध भाव माना जाता है, अर्थात् संसारावस्था में भी जीव वस्तुतः मुक्त ही है, परन्तु उसको अविद्यावरण के कारण अपने वास्तविक मुक्तस्वरूप का भान न होने से वह अपने आप को बद्ध मान कर सुखी-दुःखी होता रहता है। पुरखों द्वारा जमीन के अन्दर गाढ़ी हुई अज्ञात सम्पत्ति के ऊपर सोने वाला दारिद्र्य से दुःखी पुरुष इसका उदाहरण है।

फिर भी अविद्या के कार्य देह का विनाश न होने के कारण हटा दिये जाने पर भी (वह अज्ञानात्मक अन्धकार) गहन अन्धकार के समान पुनः पुनः (मुक्ति को) आवृत कर लेता है। उस आवरण के आभास का (पूर्ण) विच्छेद देह के विच्छेद से ही होता है। ऐसा होने पर भी प्राचीन महान्धकार का उत्सारण केवल ज्ञान के ही अधीन है। जिस प्रकार सूर्योदय द्वारा महान्धकार का निवारण कर दिये जाने पर भी छत्रादि द्वारा कृत अन्धकाराभास की निवृत्ति तो छत्रादि की निवृत्ति से ही होती है, तथापि प्राचीन (पहले किया जा चुका) महान्धकार का निवारण तो केवल सूर्योदय के ही अधीन है। अतः (मरणकालीन) ज्ञानान्तर से मुक्ति नहीं होती है, अपितु (मरण से) पूर्वकाल (अर्थात् जीवितावस्था) में उत्पन्न ज्ञान द्वारा ही मुक्ति होती है, यह सिद्ध हुआ।

(बाधक ज्ञान के रहने पर भी प्रपञ्चानुभव के अनुवर्तन की उपपत्ति)

पू०—यदि 'अद्वैतज्ञान ही पारमार्थिक (वास्तविक तत्त्व) है तथा प्रपञ्च मिथ्याज्ञान का ही प्रसार है' ऐसा श्रुति का अर्थ निश्चित हो गया, तो पुनः बाधक (ज्ञान) के रहने पर भी

रजतादिप्रपञ्चोऽनुवर्तते।

उच्यते–"नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति" (बृ० २-३-६) "नेह नानास्ति किञ्चन" (क० २-४-११) इत्यादिवाक्यसहितात् "तत्त्वमसि"-आदिवाक्यात्प्रपञ्चविलयद्वारेणासन्दिग्धमबाधितं चाद्वैतज्ञानं तावदुत्पद्यते। नच तत्प्रपञ्चप्रत्ययेन बाध्यत इति युक्तम्, तत्प्रविलयेनैवोत्पत्तेः।

यत्पुनरुक्तं 'कथं प्रपञ्चप्रत्ययानुवृत्तिः?' इति, अत्रोच्यते–द्विविधं हि बाधकं भवति। यथा सत्येव मिथ्याज्ञानहेतुभूते पित्तादौ जाग्रत्येव 'पीतः शंखः' इति ज्ञाने निमित्तान्तरात् 'नायं पीतः' इति। मिथ्याज्ञानकारणापगमे वा, यथा मन्दालोकप्रभवस्य

प्रपञ्च की अनुवृत्ति (ज्ञान हो जाने के उपरान्त भी) कैसे होती रहती है? क्योंकि शुक्तिकाज्ञान हो जाने पर तो रजत-आदि प्रपञ्च की अनुवृत्ति होती नहीं है (अपितु शुक्तिका-ज्ञान-रूपी बाधक ज्ञान के उत्पन्न होते ही रजत-आदि प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाती है)?

सि०–(इस पर हमारे द्वारा) कहा जाता है–"नेति नेति (यह ब्रह्म का आदेश अर्थात् उपदेश है), क्योंकि इस परमात्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है, अतः नेति (ऐसा कहा जाता है), वह (इस निषिद्ध मिथ्याप्रपञ्च से) अन्य परम (एकमात्र पारमार्थिक सत्य) है" "यहाँ नाना कुछ नहीं है (अपितु सब कुछ एकमात्र परब्रह्म ही है)" इत्यादि वाक्यों के सहित "तत्त्वमसि" (छा० ६-८-७) इत्यादि महावाक्यों (के श्रवण) से प्रपञ्च का विलय होते हुए सन्देह से रहित तथा कभी भी बाधित न होने वाला अद्वैतज्ञान उत्पन्न होता है। 'वह (अद्वैतज्ञान) प्रपञ्च की प्रतीति से बाधित हो जाता है', ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि उस (प्रपञ्च) के प्रविलय से ही (अद्वैतज्ञान) की उत्पत्ति हुई है।

(मिथ्याज्ञान के बाधक का द्वैविध्य)

इसके अतिरिक्त जो आपने कहा था–"(बाधित हो जाने पर) प्रपञ्च-प्रतीति की अनुवृत्ति किस प्रकार होती रहती है?"; इस पर कहते हैं–क्योंकि बाधक दो प्रकार का होता है। १.मिथ्याज्ञान के हेतुभूत (पदार्थ) के विद्यमान रहने पर ही (जो बाधक होता है, वह प्रथम प्रकार का है), जिस प्रकार (मिथ्याज्ञान के हेतुभूत) पित्त आदि के रहने पर भी जाग्रदवस्था में ही "शंख पीला है" इस प्रकार के (मिथ्या-)ज्ञान में किसी अन्य निमित्त से उत्पन्न "यह पीला नहीं है" इस प्रकार का (यथार्थज्ञान बाधक होता है)। २.अथवा मिथ्याज्ञान के कारण (अर्थात् हेतुभूत पदार्थ) का वियोग हो जाने पर (जो बाधक होता है, वह दूसरे प्रकार का है),

शुक्तिकारजतज्ञानस्य महत्यालोके 'नेदं रजतम्' इति ज्ञानम्।

तद्वदिहापि 'पीतः शंखः' इति ज्ञानबाधकवत् सत्येव मिथ्याज्ञानहेतुभूते शरीरे प्रपञ्चप्रत्ययस्य बाधकमद्वैतज्ञानमुत्पद्यते। अत एव स्वकारणाद्बाधितमपि प्रपञ्चज्ञानं पीतशंखज्ञानवत्पुनः पुनः जायत इति।

ननु देहस्यापि प्रपञ्चान्तर्गतत्वादुच्छित्तिरेव प्रसज्यत इति चेत्?

जिस प्रकार थोड़े प्रकाश में उत्पन्न शुक्तिका में रजत ज्ञान का अधिक आलोक में (उत्पन्न हुआ) "यह रजत नहीं है" इस प्रकार का (यथार्थ-)ज्ञान (बाधक होता है)।

सिद्धान्ती के अनुसार बाधक दो प्रकार का होता है। एक बाधक मिथ्याज्ञान-कारण के विद्यमान रहने पर भी मिथ्याज्ञान को बाधित करता है, जिस प्रकार "यह शंख पीला है" इस मिथ्याज्ञान के कारणभूत पित्त के विद्यमान रहने पर भी यह मिथ्याज्ञान किसी अन्य कारण (यथा आप्त-वाक्य-श्रवणादि) से उत्पन्न "यह शंख सफेद है" इस यथार्थज्ञान से बाधित हो जाता है, इस पक्ष में मिथ्याज्ञान-कारण के विद्यमान रहने से बाधित पदार्थ दीखता रहता है, अर्थात् शंख पीला ही दीखता रहता है (ज्ञाता को ज्ञान हो जाता है कि यह शंख दीखते हुए भी पीला नहीं है, यही विशेषता है)। जबकि दूसरे प्रकार का बाधक मिथ्याज्ञान-कारण का वियोग हो जाने पर मिथ्याज्ञान को बाधित करता है। जिस प्रकार शुक्तिका में "यह रजत है" इस प्रकार के मिथ्याज्ञान के कारणभूत अल्पप्रकाश का वियोग हो जाने पर अधिकप्रकाश के संयोग से उत्पन्न "यह शुक्तिका है" इस प्रकार का यथार्थज्ञान पूर्वोक्त मिथ्याज्ञान का बाधक होता है। इस पक्ष में बाधित पदार्थ अर्थात् रजत दीखना बन्द हो जाता है।

उसी प्रकार यहाँ पर भी "यह शंख पीला है" इस (मिथ्या-)ज्ञान के बाधक ("यह शंख श्वेत है" इस यथार्थज्ञान) के समान मिथ्याज्ञान के हेतुभूत शरीर के विद्यमान रहने पर भी प्रपञ्च की प्रतीति का बाधक अद्वैतज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अत एव बाधित होने पर भी अपने कारण (शरीर) के विद्यमान रहने के कारण प्रपञ्चज्ञान पीतशंख-ज्ञान के समान ही पुनःपुनः उत्पन्न हो जाता है।

भाव यही है कि जिस प्रकार बाधित हो जाने पर भी पित्तादिरूप कारण के विद्यमान रहने से पीतशंख-दर्शन निवृत्त नहीं होता है, उसी प्रकार अद्वैतज्ञान से बाधित हो जाने पर भी शरीररूप कारण के विद्यमान रहने से प्रपञ्च-दर्शन निवृत्त नहीं होता है, अपितु ज्ञान के उपरान्त भी प्रपञ्च का दर्शन होता रहता है।

(प्रारब्धकर्मवशात् देह की अनुवृत्ति)

पू०—प्रपञ्चान्तर्गत होने के कारण देह का भी (ज्ञान से) उच्छेद हो जाना चाहिये, (ऐसी स्थिति में कारण विद्यमान कैसे होगा), यदि हम ऐसा कहें, तो?

न; प्रारब्धकर्मवशादनुवृत्तेः।

कर्मणश्च कुलालचक्रभ्रमणवत्संस्कारादनुवृत्तिरिति सिद्धा जीवन्मुक्तिरिति।

सि०–नहीं, (उसका उच्छेद नहीं होता), क्योंकि प्रारब्धकर्मवशात् (उसकी) अनुवृत्ति होती रहती है।

इसका विशेषविचार ब्रह्मसूत्र के इन दो अधिकरणों के अन्तर्गत किया गया है–"अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः" (ज्ञानोत्पत्ति से पूर्वकालीन अप्रारब्धकर्म ही क्षीण होते हैं, क्योंकि "तस्य तावदेव चिरम्" इत्यादि श्रुति में ज्ञान के उपरान्त भी देहपात होने में अवधि सुनी गयी है, जो प्रारब्धकर्म-क्षय-पक्ष में संभव नहीं है, क्योंकि प्रारब्धकर्म का भी क्षय हो जाने पर ज्ञानोत्पत्ति के समनन्तर ही देहपात हो जाना चाहिये; ब्र०सू० ४-१-१५); "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते" (ज्ञानी अन्य प्रारब्ध कर्मों को तो भोग द्वारा क्षीण करके ही ब्रह्म को प्राप्त करता है; ब्र०सू० ४-१-१९)। अब यहाँ प्रश्न उद्भूत होता है कि फिर क्या ज्ञानी देहपात से पूर्व ब्रह्म को प्राप्त नहीं करता? पुनः इस स्थिति में "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है) "अत्र ब्रह्म समश्नुते" (यहीं ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है) इन श्रुतियों के साथ विरोध नहीं होगा? इस विषय को इस श्रुति से स्पष्ट कर लेना चाहिये–"ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" (ब्रह्म हो कर ही ब्रह्म में विलीन हो जाता है) भाव यही है कि वह जीवितावस्था में भी ब्रह्म ही था, तथा देहपात के अनन्तर भी वह ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है। उसका प्रारब्ध तो भुने हुए चने के समान अथवा जली हुई रस्सी के समान वस्तुतः कुछ भी करने में सर्वथा असमर्थ होता है। जिस प्रकार भुनने के उपरान्त भी चना अपने आकार में दिखायी देता रहता है, जल जाने पर भी रस्सी अपने आकार में दीखती रहती है, इसी प्रकार कुछ समय के लिये ज्ञानी का प्रारब्ध कर्म भी अज्ञानियों की व्यावहारिक या सांसारिक दृष्टि से विद्यमान रहता है, वस्तुतः ज्ञानी की पारमार्थिक दृष्टि से तो उसकी सत्ता तीनों कालों में ही नहीं है। अतः अपरोक्षानुभूतिकार कहते हैं–"जिस प्रकार जगने के उपरान्त स्वप्न नहीं रहता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान का उदय होने के उपरान्त (ज्ञानी की पारमार्थिक दृष्टि से) प्रारब्धकर्म नहीं ही रहता, क्योंकि देहादि असत्य है। जिस जन्मान्तरीयकर्म को 'प्रारब्ध' इस नाम से कहा जाता है, वह तो (परमार्थतः) पुरुष के जन्मान्तर का ही अभाव होने के कारण कभी भी नहीं होता। जिस प्रकार स्वप्नकालीन देह अध्यस्त होता है, उसी प्रकार यह देह भी (अध्यस्त ही है), फिर अध्यस्त का कहाँ (वास्तविक) जन्म होगा? तथा (वास्तविक) जन्म का ही अभाव होने पर (वास्तविक) प्रारब्ध कहाँ से होगा? (अतः वस्तुतः प्रारब्ध है ही नहीं)"। इसी बात को संक्षेप में यहाँ भी स्पष्ट करने जा रहे हैं।

परन्तु प्रारब्ध-कर्म भी तो प्रपञ्चान्तर्गत है, अतः उसकी भी ज्ञान से निवृत्ति हो जानी चाहिये, फिर वह देह का अनुवर्तक कैसे हो सकता है? इस पर कहते हैं–

कुम्हार के चाक के भ्रमण के समान (प्रारब्ध-)कर्म की भी संस्कारवशात् अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति सिद्ध हो गयी।

भाव यह है कि जिस प्रकार दण्ड द्वारा भ्रमण का संस्कार भर दिये जाने पर दण्ड निकाल लिये जाने पर भी संस्कारवशात् कुछ देर तक कुम्हार का चाक चलता रहता है, इसी प्रकार अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर भी पूर्वाहित संस्कार के कारण प्रारब्धकर्म की अनुवृत्ति होती रहती है।

कर्मसंस्कारक्षयश्च देहपाते सति सर्वस्यैव प्रपञ्चप्रत्ययस्यापि प्रविलयः। कर्मान्तराणां च ज्ञानेन क्षपितत्वाद्देहान्तरानुत्पत्तिरिति परममुक्तिः।

एवं च सति ज्ञानमात्रान्मुक्तिरिति प्रतिपादनादेव कर्मणो मुक्तिहेतुत्वमपास्तं वेदितव्यम्। तथाहि—न तावत्केवलात्कर्मणो मुक्तिश्रवणम्। नापि तत एव ज्ञानसहितात्, अश्रुतेरेव।

ननु "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च" (बृ० ४-४-२) इति विद्याकर्मणोः सहभावः श्रूयते?

(परममुक्ति की सिद्धि)

देहपात हो जाने पर कर्मसंस्कार का भी क्षय हो जाता है तथा सम्पूर्ण प्रपञ्च-प्रतीति का भी पूर्णरूपेण विलय हो जाता है। अन्य (संचित आदि देहान्तर के आरम्भक) कर्मों का तो ज्ञान के द्वारा (पहले ही) क्षय हो जाने के कारण (देहपात के अनन्तर) देहान्तर की उत्पत्ति नहीं होती है; इस प्रकार परममुक्ति (भी सिद्ध हो गयी)।

(कर्म के मुक्तिहेतुत्व का निरास)

ऐसा होने पर "ज्ञानमात्र से ही मुक्ति होती है" इस प्रकार प्रतिपादन कर देने से ही "कर्म मुक्ति के हेतु हैं" इस (सिद्धान्त) को निरस्त समझना चाहिये। क्योंकि (श्रुतियों में) न तो केवल कर्म से मुक्ति सुनने में आती है, तथा न ज्ञान सहित उस (कर्म) से (मुक्ति) हो सकती है, क्योंकि (पुनः श्रुतियों में ऐसा भी) सुनने में नहीं आता।

श्रुतिभगवती ने कहीं भी कर्म को मुक्ति का हेतु स्वीकार नहीं किया है, प्रत्युत निषेध ही किया है—"परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन" (कर्म से प्राप्त होने वाले लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण उनसे वैराग्य को प्राप्त हुआ तथा उसे यह ज्ञात हुआ कि अकृत अर्थात् कर्म से असाध्य मोक्ष कृत अर्थात् कर्म से प्राप्त नहीं होता) "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः" (ये यज्ञरूपी नौकाएं दृढ नहीं है अर्थात् संसार-सागर को तरने में पूर्णरूपेण समर्थ नहीं हैं)। इसी प्रकार ज्ञानसहित कर्म को मुक्ति का हेतु नहीं माना जा सकता, क्योंकि दोनों का विरोध पर्वत के समान अकम्प्य होने के कारण उनका समुचित अनुष्ठान सर्वथा असंभव है। आत्मा के अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व-साक्षात्काररूप ज्ञान का कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमानसाध्य कर्म के साथ एक ही काल में एक ही व्यक्ति के द्वारा अनुष्ठान कैसे हो सकता है? इसके अतिरिक्त "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" (उसको जान कर ही मृत्यु का अतिक्रमण करता है) "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" (कैवल्य तो ज्ञान से ही प्राप्त होता है) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ ज्ञानमात्र से मोक्ष की प्राप्ति बतला रही हैं। अतः सिद्धान्ततः ज्ञान को ही मोक्ष का एकमात्र साधन स्वीकार किया गया है।

पू०—"विद्या, कर्म तथा पूर्वप्रज्ञा (अर्थात् पूर्वानुभवजन्य वासना), ये उस (परलोक

सत्यम्; संसारविषयं तच्छ्रवणम्, न मुक्तिविषयमिति।

"यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादिचोदनाप्राप्तानां नित्यनैमित्तिककर्मणां ज्ञानस्य चार्थात्समुच्चय इति चेत्?

न; विनियोजकप्रमाणाभावात्।

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन" (बृ० ४-४-२२) इत्यत्र तृतीयाश्रुतिः विनियोजिकेति चेत्?

न; विविदिषासम्बन्धात्कर्मणां ज्ञानार्थत्वप्रतीतेः मोक्षार्थत्वं नावगम्यत इति।

में जाने वाले म्रियमाण पुरुष) के साथ-साथ जाते हैं", इस श्रुति में तो विद्या तथा कर्म का सहभाव सुनने में आ रहा है?

सि०—आपका कथन सत्य है, परन्तु वह श्रुतिवचन संसारविषयक है, मोक्षविषयक नहीं।

इस उदाहृत श्रुति के अन्तर्गत म्रियमाण पुरुष का गमन बतलाया गया है, यही उसके संसारित्व में प्रमाण है; क्योंकि मुक्त पुरुष के गमन का निषेध किया गया है—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" (उस ब्रह्मभाव को प्राप्त ज्ञानी के प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता; बृ०उ० ४-४-६)। अतः भगवान् सुरेश्वराचार्य ने भी उदाहृत श्रुति में प्रयुक्त विद्यापद से ब्रह्मविद्या के ग्रहण का निषेध किया है— "संसारकारणध्वंसि यत्तु ज्ञानं परात्मगम्। तदत्र न परिग्राह्यं सर्वापत्कारणापनुत्" (जो संसार के कारण अविद्या का विनाशक परमात्मविषयक ज्ञान है, उसका यहाँ पर ग्रहण नहीं करना चाहिये, वह तो (मृत्यु आदि) समस्त आपत्तियों के कारण (अज्ञान) की निवृत्ति कर देने वाला है; बृ०भा०वा० ४-४-११३)।

पू०—"जीवन-पर्यन्त अग्निहोत्र करना चाहिये" इत्यादि विधियों के द्वारा विहित नित्य-नैमित्तिक-कर्मों का तथा ज्ञान का समुच्चय तो अर्थतः ही सिद्ध हो जाता है?

सि०—नहीं, क्योंकि कोई विनियोजक प्रमाण नहीं है।

पू०—"ब्राह्मण उस तत्त्व को वेदानुवचन, यज्ञ, दान तथा नाश न करने वाले तप से जानने की इच्छा करते हैं" इस (श्रुतिवाक्य में) तृतीयाश्रुति विनियोजिका है, यदि ऐसा कहें, तो?

सि०—नहीं, क्योंकि (तृतीयाश्रुति का) विविदिषा के साथ सम्बन्ध होने के कारण 'कर्म ज्ञानार्थक (ज्ञानरूप प्रयोजन वाले) हैं' ऐसा बोध होने से '(कर्म) मोक्षार्थक हैं' ऐसा (इस श्रुति से) नहीं पता लगता।

तृतीया करणकारक में होती है। करण का अर्थ असाधारण कारण अथवा साधकतम होता है।

किंच, नहि ज्ञानमज्ञाननिवृत्तावुपकारकमपेक्षते, उत्पन्नादेव तस्मादज्ञाननिवृत्तेरवश्यंभावात्। तथाच श्रुतिः—"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (शु०य०मा० ३१-१८) इति।

अपिच यदि कर्मफलं मोक्षो भवेत्, तदाऽनित्यत्वं प्रसज्यते घटादिवत्स्वर्गादिवच्चेति। अमुमेवार्थं श्रुतिरप्याह—"तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" (छा० ६-८-१) इति। "अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव" (ब्र० ४-२-१६) इति सूत्रकारेण परम्परया कर्मणां मुक्तिहेतुत्वमभिहितं प्रयाजादिवत्। अतः ज्ञानार्थत्वेन कर्मणामुपयोगोऽस्त्येव। ज्ञानोत्पत्तेस्तु परं कर्मणामुपयोगाभावेऽपि लोकसंग्रहार्थमनुष्ठानं कर्तव्यमेवेति सर्वं समञ्जसम्। ६।

श्रुतिभगवती ने वेदानुवचन आदि शब्दों में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया है, जिसका सम्बन्ध विविदिषा (जानने की इच्छा) के साथ है। इससे ज्ञात होता है कि वे ज्ञान के साधकतम हैं, क्योंकि इनके द्वारा चित्त की शुद्धि हो जाने पर ही उस चित्त के अन्तर्गत ज्ञान को धारण करने की योग्यता आती है। परन्तु इस श्रुति से कहीं भी यह भाव नहीं निकलता कि वे मोक्ष के साधन हैं। अतः पूर्वपक्षी का मत अनुपयुक्त है।

और भी, ज्ञान को अज्ञान की निवृत्ति करने के लिये किसी उपकारक की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि (एक बार) उत्पन्न हो जाने पर उस (ज्ञान) से अज्ञान की निवृत्ति होना अवश्यंभावी है। श्रुति भी कहती है—"उसको जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण करता है, इसकी प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है"।

(कर्म का फल मानने पर मोक्ष के अनित्यत्व की प्रसक्ति)

और भी, यदि मोक्ष कर्म का फल होता, तो घटादि (ऐहिक पदार्थों) के समान तथा स्वर्गादि (आमुष्मिक पदार्थों) के समान वह अनित्य हो जाता (क्योंकि ये दोनों ही कुलालादिनिष्ठ तथा यजमानादिनिष्ठ कर्म के फल हैं)। इसी बात को श्रुति भी कह रही है—"वह जिस प्रकार यहाँ कर्म से प्राप्त लोक (ऐहिक सांसारिक पदार्थ) क्षीण हो जाता है, इसी प्रकार वहाँ भी पुण्य से प्राप्त लोक (आमुष्मिक स्वर्गादि पदार्थ) क्षीण हो जाता है"। "अग्निहोत्रादि तो उस (ज्ञान) के कार्य (मोक्ष) के लिये ही हैं" इस (सूत्र द्वारा) सूत्रकार (भगवान् बादरायण) ने भी कर्मों को परम्परा से मुक्ति का हेतु बतलाया है, प्रयाजादि के समान। अतः ज्ञान के लिये ही कर्मों का उपयोग है ही। ज्ञान की उत्पत्ति के उपरान्त तो कर्म का उपयोग न रहने पर भी लोकसंग्रह के लिये कर्म का अनुष्ठान करना ही चाहिये; इस प्रकार सब-कुछ समञ्जस सिद्ध हो जाता है। ६।

यथानेकचक्षुःप्रकाशो रविर्न क्रमेण प्रकाशीकरोति प्रकाश्यम्।
अनेका धियो यस्तथैकप्रबोधः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा। ७।

(एक आत्मा द्वारा एक साथ अनन्त बुद्धियों को अधिष्ठित करने में दृष्टान्त)

जिस प्रकार अनेक चक्षुओं का प्रकाशक सूर्य (उन सब के लिये) प्रकाश्य-वस्तु को क्रमशः नहीं प्रकाशित करता (अपितु एक साथ ही प्रकाशित करता है)। इसी प्रकार जो एक प्रबोधस्वरूप (आत्मा) अनेक बुद्धियों को (एक साथ अधिष्ठित अर्थात् नियमित करता है); वह नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ। ७।

ननु कथमेक एवात्मा युगपदनेकां बुद्धिमधितिष्ठति? न ह्येक एवाश्वसादी युगपदनेकानश्वानधितिष्ठन्नुपलभ्यते। क्रमेण त्वधिष्ठानं युक्तम्। तच्चेह नास्ति, युगपदेव सर्वबुद्धीनां स्वव्यापारे प्रवृत्तिदर्शनात्; अनधिष्ठितानां च प्रवृत्त्यसंभवाच्च। अतः नैक आत्मा; इत्यत आह–

यथेति। यथा येन प्रकाशकत्वप्रकारेण रविरादित्य एक एवानेकेषां चक्षुषां प्रकाशकः, युगपदनेकानि चक्षूँष्यधितिष्ठति, न च क्रमेणैकैकस्मै चक्षुषे प्रकाश्यं

भगवान् श्री कृष्ण का भी यही आदेश है–"लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि" (यदि तुम्हें ज्ञान हो भी गया है, तो भी लोकसंग्रह अर्थात् लोक के अभ्युत्थान की भावना से कर्म कर ही सकते हो)।

पू०–एक ही आत्मा एक साथ ही अनेक बुद्धियों को कैसे अधिष्ठित (नियमित, नियन्त्रित) कर सकता है? क्योंकि एक ही अश्वारोही एक ही साथ अनेक अश्वों को अधिष्ठित करते हुए नहीं देखा जाता। क्रमशः अधिष्ठान (नियमन) तो ठीक है। वह (क्रमशः अधिष्ठान) तो यहाँ (आत्मा के प्रसङ्ग) में नहीं है, क्योंकि सब बुद्धियों की एक साथ ही अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्ति होते देखी जाती है। (यदि कहो कि उनमें से एक आत्मा से अधिष्ठित है, शेष नहीं; तो यह भी संभव नहीं है, क्योंकि) बिना (किसी चेतन से) अधिष्ठित हुए (जड बुद्धिओं) की प्रवृत्ति (रथादि के समान) असंभव है। अतः आत्मा एक नहीं है, (अपितु अनेक है); इस पर कहते हैं–

'यथा' प्रकाशकता के जिस प्रकार से सूर्य एक ही अनेक चक्षुओं का प्रकाशक होता है, एक साथ ही अनेक चक्षुओं को अधिष्ठित करता है, वह क्रमशः एक-एक चक्षु के लिये प्रकाश्य (पदार्थ) को प्रकाशित नहीं करता, (प्रकाशकता के) उसी प्रकार से एक तथा

विवस्वत्प्रभातं यथारूपमक्षं प्रगृह्णाति नाभातमेवं विवस्वान्।
यदाभात आभासयत्यक्षमेकः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा। ८।

(आत्मा सूर्य का भी प्रकाशक है)

जिस प्रकार सूर्य के द्वारा प्रकाशित रूप को चक्षु ग्रहण करता है, अप्रकाशित (रूप) को नहीं; इसी प्रकार एक सूर्य भी जिसके द्वारा आभात (प्रकाशित) हो कर चक्षु के लिये (रूप को) प्रकाशित करता है; वह नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ। ८।

भगवती श्रुति का कथन है कि 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' उसी स्वयंज्योति आत्मतत्त्व के प्रकाश से ये सब चन्द्र-सूर्यादि प्रकाशित होते हैं। इसी श्रौतसिद्धान्त को यहाँ पर संकलित किया गया है। अतः जिस प्रकार सूर्य चक्षु का अनुग्राहक है तथा सूर्य के अभाव में चक्षु रूपसाक्षात्कार करने में असमर्थ होता है; इसी प्रकार अन्तरिक्ष में विद्यमान वह सूर्य भी आत्मतत्त्व के प्रकाश से ही प्रकाशित हो कर इन समस्त जीवों के चक्षुओं को उपकृत करने में समर्थ हो पाता है, इस परम आकाश में सर्वतः प्रसृत आत्मतत्त्व के प्रकाश के अभाव में सूर्य का प्रकाश सम्भव ही नहीं है। उस आत्मतत्त्व की वह दिव्य ज्योति नित्य है, असीम है, अनादि तथा अनन्त है, एवं लौकिक मन की समस्त संभावित सीमाओं का अतिक्रमण करने वाली है, वही परमज्योतिःस्वरूप आत्मतत्त्व ही मेरा वास्तविक स्वरूप है, उपाधियों से परिच्छिन्न यह अध्यारोपित स्वरूप नहीं।

प्रकाशीकरोति। तथा तेनैव प्रकारेण, एकश्चासौ प्रबोधश्चैकप्रबोधः सोऽधिष्ठाताऽनेका धियो बुद्धीः युगपदधितिष्ठति, न क्रमेणैकैकस्यै धिये प्रकाश्यं प्रकाशीकरोति, यः सोऽहमात्मेति सम्बन्धः। ७।

नन्वस्तु तर्हि रविरेव बुद्धीनां प्रेरकोऽधिष्ठाता, किमात्माभ्युपगमेन? तथा च श्रुतिः–"धियो यो नः प्रचोदयात्" (ऋ० ३-६२-१०) इति, अत आह–

प्रबोधस्वरूप वह अधिष्ठाता अनेक बुद्धियों को एक साथ ही अधिष्ठित करता है, क्रमशः एक-एक बुद्धि के लिये प्रकाश्य (वस्तु) को प्रकाशित नहीं करता, ऐसा जो आत्मा है, वह मैं हूँ। ७।

पू०–तो फिर सूर्य को ही बुद्धियों का प्रेरक तथा अधिष्ठाता मान लो, आत्मा को मानने की क्या आवश्यकता है? श्रुति भी (सूर्य को ही बुद्धियों का प्रेरक बतला रही है)–"जो (सविता) हमारी बुद्धियों को प्रेरित करते हैं"; अतः कहते हैं–

यहाँ पर पूर्वपक्षी ने सूर्य को ही बुद्धियों का प्रेरक मानने में प्रसिद्ध गायत्रीमन्त्र को ही प्रमाणरूप से उद्धृत किया है। पूर्ण मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है–(यः) जो देव सविता (नः) हमारी

विवस्वदिति। विवस्वता सूर्येण प्रभातं प्रकाशितं रूपं यथा येन प्रकारेणाक्षं चक्षुः प्रगृह्णाति प्रकर्षेण जानाति, नाभातं नाप्रकाशितम्, अन्धकारे घटाद्यनुपलम्भात्; एवं विवस्वानप्येकस्तथा तेनैव प्रकारेण यदाभातः येनाधिष्ठितः सन्नाभासयत्यधितिष्ठत्यक्षम्। यथा विवस्वानधिष्ठाता, तथा विवस्वतोऽप्यधिष्ठाता यः, सोऽहमात्मेति सम्बन्धः।

स चाहंबुद्धीनामधिष्ठाता; श्रुत्या तु चक्षुरधिष्ठातृत्वमभिप्रेत्य विवस्वतो बुद्धिप्रेरकत्वमभिहितम्। यस्माद्विवस्वदधिष्ठितं चक्षुः बुद्धिवृत्तिमुत्पादयति; अधिष्ठातुरात्मनो वा स्वरूपमभिप्रेत्योक्तः। तथा च "सूर्य आत्मा जगतस्तथुषश्च" इति।

(धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरित करते हैं; (तत्) उस (देवस्य) देव (सवितुः) सविता के (वरेण्यम्) वरणीय-संभजनीय (भर्गः) तेज का (धीमहि) हम ध्यान करते हैं।

जिस प्रकार सूर्य के द्वारा प्रकाशित रूप को चक्षु अच्छी प्रकार से जानता है, अप्रकाशित को नहीं, अन्धकार में घट का ज्ञान न होने से। उसी प्रकार एक सूर्य भी जिसके द्वारा अधिष्ठित होकर चक्षु को अधिष्ठित करता है, अर्थात् जिस प्रकार सूर्य (चक्षु का) अधिष्ठाता है, उसी प्रकार जो सूर्य का भी अधिष्ठाता है, वह आत्मा मैं हूँ; इस प्रकार (शब्दों का परस्पर) सम्बन्ध समझना चाहिये।

तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार सूर्य से अधिष्ठित होकर ही चक्षु रूप का प्रकाशन करने में समर्थ हो पाता है, अनधिष्ठित होकर नहीं। इसी प्रकार जिस आत्मा के द्वारा अधिष्ठित सूर्य प्रकाशित होकर विश्व के चक्षुओं को अधिष्ठित कर पाने में समर्थ हो पाता है तथा जिस आत्मा के द्वारा अधिष्ठित न होने पर सूर्य अपने द्वारा अनधिष्ठित चक्षु के समान ही इस जगत् को प्रकाशित करने में क्षणमात्र के लिये भी समर्थ नहीं हो पाता, वह परमात्मा मैं ही हूँ।

वह (आत्मा) अहंबुद्धियों का अधिष्ठाता है। श्रुति ने तो 'वह चक्षु का अधिष्ठाता है' इस अभिप्राय से सूर्य को बुद्धियों का प्रेरक कहा है (अर्थात् यद्यपि गायत्रीमन्त्र सूर्य को बुद्धियों का प्रेरक बतला रहा है, परन्तु उसका अभिप्राय सूर्य को चक्षु का अधिष्ठाता बतलाना ही है)। क्योंकि सूर्य से अधिष्ठित होकर ही चक्षु बुद्धिवृत्ति को उत्पन्न करता है। अथवा (बुद्धियों के) अधिष्ठाता आत्मा का ही स्वरूप मानकर (सूर्य को उनका अधिष्ठाता) कहा गया है। और (श्रुति ने अन्यत्र सूर्य को आत्मा कहा) भी (है)—"सूर्य स्थावर-जङ्गम का आत्मा है"।

अतः सावित्रीमन्त्र पर भाष्य लिखते समय भगवान् शङ्कराचार्य ने सविता-पद से परमात्मा को ही स्वीकार किया है—"आत्मनः स्वरूपभूतं परं ब्रह्म तत्सवितुरित्यादिपदैर्निर्दिश्यते...सवितुरिति

यथा सूर्य एकोऽप्स्वनेकश्चलासु स्थिरास्वप्यनन्वग्विभाव्यस्वरूपः।
चलासु प्रभिन्नासु धीष्वेवमेकः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा।९।

(आत्मतत्त्व बुद्ध्यादि में अनुगत नहीं है)

जिस प्रकार एक सूर्य अनेक चलायमान तथा स्थिर जलों में अननुगत तथा विभाव्यस्वरूप होता है; इसी प्रकार जो प्रभिन्न चलायमान बुद्धियों में भी एक (अननुगत तथा विभाव्यस्वरूप होता है); वह नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व मैं हूँ।९।

कई जलपात्रों में जल रखा रहता है, उनमें सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है। कुछ का जल चलायमान, जबकि कुछ का स्थिर होता है; जिनका जल चलायमान होता है, उनमें प्रतिबिम्बित सूर्य भी

नन्वपि तर्हि प्रकाशान्तरेणैवाधिष्ठातव्यम्?

न; तस्य स्वप्रकाशत्वात्, "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टा" (बृ० ३-७-२३) इति च श्रुत्या तदितरप्रतिषेधाच्च।८।

सृष्टिस्थितिलयलक्षणकस्य सर्वप्रपञ्चस्य समस्तद्वैतविभ्रमस्याधिष्ठानं लक्ष्यते" (तत्सवितुः इत्यादि पदों से आत्मा का स्वरूपभूत परब्रह्म ही निर्दिष्ट है...सवितुः इस पद से सृष्टि स्थिति तथा लय लक्षण वाले इस समस्त द्वैत विभ्रम रूप सम्पूर्ण प्रपञ्च का अधिष्ठान परमात्मा ही लक्षित होता है)। ऋग्वेदभाष्यकार सायणाचार्य ने भी सविता को सर्वान्तर्यामी प्रेरक जगत्-स्रष्टा परमेश्वर ही माना है। यजुर्वेदभाष्यकार उव्वटाचार्य तथा महीधराचार्य ने भी सविता का अर्थ विज्ञानानन्दस्वभाव ब्रह्म ही किया है। अतः यही सिद्ध होता है कि बाह्य सूर्य बुद्धियों का प्रेरक नहीं है, अपितु सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही प्रत्यगात्मारूप से समस्त बुद्धियों का प्रेरक होता है।

पू०–तो भी (आत्मा को) अपने से भिन्न प्रकाश द्वारा (बुद्धियों को) अधिष्ठित करना चाहिये?

भाव यही है कि उस श्रुति में 'सवितुः भर्गः' इस षष्ठी का 'सवितासम्बन्धी तेज' ऐसा अर्थ निकलने के कारण यह सिद्ध होता है कि आत्मा अपने से भिन्न किसी प्रकाशान्तर द्वारा ही बुद्धियों को अधिष्ठित करता है।

सि०–नहीं, क्योंकि वह स्वप्रकाश है तथा क्योंकि "इसके अतिरिक्त अन्य कोई द्रष्टा नहीं है" इस श्रुति के द्वारा उससे भिन्न किसी (प्रकाशादि) का निषेध किया गया है।८।

गायत्रीभाष्य में भगवान् भाष्यकार ने इस शङ्का का समाधान करते हुए कहा है–"सवितुर्देवस्येत्यत्र षष्ठ्यर्थो राहोः शिरोवदौपचारिकः" जिस प्रकार शिर राहु को ही 'राहु का शिर' इस प्रकार औपचारिक रीति से कहा जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। क्योंकि उससे भिन्न किसी प्रकाश की सत्ता संभव ही नहीं है। अतः सायणाचार्य ने भी 'भर्गः' का अर्थ 'परब्रह्मस्वरूप तेज' ही किया है।

चलायमान तथा अन्य में स्थिर प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुतः सूर्य चलायमान नहीं होता; क्योंकि वह उन जलों में अनुगत ही नहीं है। यदि वह उनमें अनुगत होता अर्थात् वस्तुतः उनके अन्तर्गत प्रविष्ट होता तथा उन उपाधियों का अनुगमन करने वाला होता, तो उसके अन्तर्गत भी चाञ्चल्य आ जाना अवश्यंभावी था। परन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः चञ्चल जलों में भी दीखने वाले सूर्य का स्वरूप अननुगत तथा विभाव्य अर्थात् विवेचनीय होता है, अर्थात् उसके स्वरूप का निश्चय यही करना पड़ता है कि वह उन जलों में अनुगत नहीं है तथा जलों से सर्वथा विविक्त है।

इसी प्रकार विभिन्न तथा चलायमान बुद्धियों के अन्तर्गत भी प्रतीत होने वाला आत्मतत्त्व वस्तुतः उनमें अनुगत नहीं है, उस आत्मतत्त्व का पारमार्थिक स्वरूप इन सबसे विभाव्य अर्थात् विविक्त है। अतः श्रुति भगवती कहती है–"तदेजति तन्नैजति" वह आत्मतत्त्व कम्पन करता है, वह आत्मतत्त्व कम्पन नहीं करता। बुद्धिआदि उपाधियों से उपहित आत्मतत्त्व को देखने पर वह कम्पन करता हुआ सा, चञ्चल होता हुआ सा प्रतीत होता है, जिस प्रकार घटस्थ जल में प्रतिबिम्बित होता सूर्य। परन्तु निरुपाधिक शुद्ध आत्मतत्त्व कभी भी कम्पित अर्थात् चलायमान नहीं होता, क्योंकि वह उपाधियों में वस्तुतः कभी भी अनुगत होता ही नहीं है। आत्मतत्त्व की इस बुद्ध्यादि से विविक्तता का भान भी विवेक-शव्द का एक अर्थ है।

किञ्च–

यथेति। यथा येन प्रकारेणादित्य एकोऽप्सु वारिषु चलासु स्थिरासु चानेकोऽपि नानाऽप्येकः सन्प्रतिभासते, अनन्वग्विभाव्यस्वरूपः अनु पश्चादञ्चति गच्छतीत्यन्वक्, नान्वगनन्वगननुगत इति यावत्।

यद्वाऽनन्वक्त्वेन विभाव्यं स्वरूपं यस्य स तथोक्तः। एवं बहुव्रीहिसमासं कृत्वा पश्चान्नञ्समासः। ततश्चायमर्थो भवति–न वारिषु रविरनुगतो भवति। किं तर्हि?

और भी–

जिस प्रकार एक सूर्य चलायमान तथा स्थिर जलों में एक होते हुए भी नाना प्रतिभासित होता है, जो सूर्य अनन्वक् तथा विवेचनीय स्वरूप वाला है। जो अनु अर्थात् पश्चात् चलता है, उसे अन्वक् कहते हैं तथा जो अन्वक् नहीं होता, उसे अनन्वक् कहते हैं। (इस प्रकार अनन्वक् का) अननुगत (जो अनुगत न हो); यह अर्थ है।

'अन्वक्' शब्द अनु उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक 'अञ्चु गतिपूजनयोः' से कर्त्रर्थक प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है, अतः उसका अर्थ होता है–अनुगमन करने वाला।

अथवा–जिसका स्वरूप अननुगतत्वेन विभाव्य (जानने योग्य, निश्चय करने योग्य) है, वह भी अनन्वग्विभाव्यस्वरूप कहलाता है। इस प्रकार बहुव्रीहिसमास करके उसके उपरान्त नञ्समास करना चाहिये। उससे यह अर्थ निकलता है–जल में रवि अनुगत नहीं

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा। १०।

(आत्मा में बद्धत्व की प्रतीति अज्ञानकृत है)

जिस प्रकार मेघ से आच्छादित दृष्टि वाला अतिमूढ (पुरुष) मेघ से आच्छादित सूर्य को प्रकाश से रहित मानता है, इसी प्रकार जो मोहितदृष्टि वाले (अज्ञानी) के लिये बद्ध के समान प्रतीत होता है; वह नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ। १०।

घने कोहरे से आच्छादित हो जाने पर सूर्य तो दीखता रहता है, परन्तु उसका तेज नष्ट होता हुआ-सा प्रतीत होता है, इसी प्रकार काले बादलों के उमड़ आने पर मध्याह्न में भी अन्धकार हो जाता है। उस समय यदि चक्षुओं पर विश्वास किया जाये, तो सूर्य विनष्टतेजा अथवा विनष्टप्रकाश प्रतीत होना चाहिये। यद्यपि ऐसी प्रतीति होती भी है, तो भी बुद्धि तथा तर्क के विपरीत होने के कारण तथा आवरण के हट जाने पर पुनः सूर्य के यथापूर्व दर्शन होने के कारण चिन्तक बुद्धिमान पुरुष सूर्य पर दोषारोपण न करके आवरण की प्रकृति को समझ जाता है। इसी प्रकार बुद्धि-तर्क तथा श्रुति के विरुद्ध होने के कारण तथा मिथ्याज्ञान का आवरण हट जाने पर पुनः आत्मतत्त्व के वास्तविक मुक्त स्वरूप का साक्षात्कार होने के कारण बुद्धिमान् महात्मा पुरुष इस आत्मतत्त्व को नित्यमुक्त ही जानता है, बन्धन की प्रतीति तो अज्ञानियों को होती है। जिस प्रकार सूर्य पर उन आवरणों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह अपने स्वरूप में सदैव अवस्थित रहा आता है, उन आवरणों का प्रभाव तो केवल हमारे ऊपर ही पड़ता है, इसी प्रकार आत्मतत्त्व के विषय में भी समझना चाहिये। शास्त्र भी अज्ञानिप्रसिद्ध उसी बन्धन का अनुवाद अपनी भाषा के अन्तर्गत करते हैं, क्योंकि शास्त्रविधान के विषय वे ही अज्ञानी हैं, अतः शास्त्र को उन्हें उन्हीं की भाषा में समझाना आवश्यक हो जाता है। परमार्थतः सत्य तो यही है–"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता" (माण्डूक्यका० २-३२) अर्थात् न प्रलय है, न उत्पत्ति है; न कोई बद्ध है तथा न कोई साधक है, न कोई मुमुक्षु है तथा न ही कोई मुक्त है; यही परमार्थता है। परन्तु यह परमार्थसत्य अपरोक्ष स्वानुभव का विषय है।

तथैव नभसि देदीप्यमानो भ्रान्त्या वारिषु दृश्यत इत्यर्थः। एवमेक आत्मा चलासु प्रभिन्नासु नानाभूतासु धीषु बुद्धिष्वनेकः सन्ननन्वग्विभाव्यस्वरूपो न बुद्धीरनुगतो भवति। किं तर्हि? पृथगेव देदीप्यते यः, सोऽहमात्मेत्यर्थः। ९।

होता। फिर क्या? उसी प्रकार आकाश में देदीप्यमान होता हुआ भ्रान्ति से जल में दिखायी देता है, यह अर्थ है। इसी प्रकार एक ही आत्मा चलायमान तथा प्रभिन्न नानाभूता बुद्धियों में अनेक-सा होता हुआ (वस्तुतः) अननुगतरूप से निश्चय करने योग्य स्वरूप वाला ही होता है, बुद्धियों में अनुगत नहीं होता। तो फिर? पृथक् ही देदीप्यमान होता है, ऐसा जो है, वह आत्मा मैं हूँ; यह अर्थ है। ९।

किञ्च–घनेति। घनेन मेघेन च्छन्ना तिरोहिता दृष्टिर्दर्शनं यस्य सः घनच्छन्नदृष्टिः पुरुषः घनच्छन्नमर्कमादित्यं यथा येन घनच्छन्नत्वप्रकारेण मन्यते जानाति निष्प्रभं प्रभारहितमप्रकाशस्वभावमिति यावत्, मूढो मन्यते घनच्छन्नदृष्टित्वात्। प्रकाशस्वभावमपि रविमप्रकाशं पश्यतीत्याह अतिमूढ इति। अतिमूर्खत्वात्स्वात्मनो दृष्टिविघातमगणयन् सूर्यमेवाप्रकाशं मन्यते। पादपूरणे चकारः। तथा तेन प्रकारेणाविद्याच्छन्नदृष्टिः बुद्धिमात्मत्वेन गृहीत्वा तद्गतदुःखादिकमात्मन्यध्यारोप्य बद्ध इवाभाति यः मूढदृष्टेः, सोऽहमात्मेति सम्बन्धः। १०।

और भी–मेघ से जिसकी दृष्टि आच्छादित हो गयी है, ऐसा पुरुष जिस प्रकार सूर्य को मेघ से आच्छादित तथा प्रभा से रहित अर्थात् अप्रकाशस्वभाववाला मान बैठता है। मेघ से आच्छादित दृष्टि वाला होने के कारण मूढ ही ऐसा मानता है। फिर प्रकाशस्वभाववाले सूर्य को भी अप्रकाशस्वरूप देखता है; इसीलिये कहते हैं वह अतिमूढ (अत्यधिक मोहित) है। अतिमूर्ख होने के कारण अपनी दृष्टि के विघात की परवाह किये विना सूर्य को ही अप्रकाशस्वरूप मान लेता है। चकार (श्लोक के) पाद की पूर्तिमात्र के लिये है (अर्थात् वस्तुतः उसका अपना कोई अर्थ यहाँ पर नहीं है)। उसी प्रकार से अविद्या से आच्छादित दृष्टिवाला (पुरुष) बुद्धि को ही आत्मा मानकर उस (बुद्धि) में विद्यमान दुःखादि को अपने में अध्यारोपित कर लेता है, इस प्रकार की मोहित-दृष्टि वाले (पुरुष) को जो वद्ध के समान प्रतीत होता है, वह आत्मा मैं हूँ; ऐसा सम्बन्ध है। १०।

जिस समय चारों दिशाएं कोहरे से व्याप्त होती हैं, उस समय यद्यपि सूर्य दीखता रहता है, परन्तु अत्यन्त प्रभाहीन, शीतल सा तथा श्वेत दीखता है। उस समय कोहरा उसकी प्रचण्ड उग्रता को तिरोहित कर देता है। ऐसा ही कृष्णवर्णीय उपनेत्रों को धारण करने से होता है। परन्तु क्या वस्तुतः ऐसा होता है? वास्तविकता यह है कि हमारे चक्षुओं के ऊपर उपनेत्र अथवा कोहरे से एक आवरण का निर्माण हो गया, जिसके कारण हमारी दृष्टि तिरोहित हो कर सूर्य के वास्तविक प्रचण्ड प्रकाशमय स्वरूप का साक्षात्कार कर पाने में असमर्थ है। परन्तु कुछ समय वाद आवरण हट जाने पर सूर्य के वास्तविक स्वरूप का दर्शन हो जाता है, इस प्रकार सूर्य की प्रभाहीनता का पूर्वानुभव मिथ्या सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार अविद्याकृत आवरण हट जाने के उपरान्त जब व्यक्ति को आत्मा के वास्तविक सुख-दुःखातीत स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है, उस समय पूर्वानुभूत संसार के मिथ्यात्व का स्वतःस्फुरण होने लगता है। परन्तु जब तक इस वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक तो आत्मतत्त्व-ज्ञान के अभाव में अधिक से अधिक अपनी बुद्धि को ही आत्मा मानता रहता है तथा उस बुद्धि में विद्यमान सुख-दुःखादि अनुभवों के मल को अपने अन्तर्गत अवस्थित समझता है और इस प्रकार अनन्त काल तक अपने को बद्ध मानता रहता है।

समस्तेषु वस्तुष्वनुस्यूतमेकं समस्तानि वस्तूनि यं न स्पृशन्ति।
वियद्वत्सदा शुद्धमच्छस्वरूपः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा। ११।

(आत्मा की नित्यशुद्धता)

जो एक (तत्त्व) समस्त वस्तुओं में अनुगत है, परन्तु समस्त वस्तुएं जिसका स्पर्श नहीं कर पातीं; जो आकाश के समान सदा शुद्ध तथा अमृतस्वरूप है, वह नित्योपलब्धिस्वरूप आत्मा मैं हूँ। ११।

प्रत्येक वस्तु में हमें सत्त्व की अनुभूति होती है–घट है, गृह है, इत्यादि। यदि इसका विश्लेषण किया जाये, तो घट का आकार भी अनित्य है तथा उसका नाम भी अनित्य है; परन्तु उसमें दीखने वाली सत्त्व की भावना सदैव विद्यमान रहती है, वह समस्त वस्तुओं में व्याप्त है। यही सत् ब्रह्म है–'एकं सत्' (वह सत् अर्थात् ब्रह्म एक है; ऋग्वेद)। इस रीति से समस्त पदार्थों में अनुगत होते हुए भी कोई भी वस्तु उसका स्पर्श नहीं कर पाती, वह सब वस्तुओं से असंस्पृष्ट तथा संसर्गरहित रहता है, अतः वह उन वस्तुओं के भग्न अथवा विनष्ट हो जाने पर भी विनष्ट नहीं होता, जिस प्रकार घट के विनष्ट हो जाने पर भी तदवस्थित आकाश विनष्ट नहीं होता; अतः श्रुति कहती है–'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (यह परमपुरुष असङ्ग है); 'असङ्गो नहि सज्जते' (वह असङ्ग कहीं भी आसक्त नहीं होता)। इसी रहस्य को भगवान् श्री कृष्ण ने अत्यन्त सुन्दर शब्दों में समझाया है–'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्' (मुझ अव्यक्तस्वरूप वाले के द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। समस्त भूत-प्राणी मुझमें अवस्थित हैं, परन्तु मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ; और वास्तव में भूत भी मुझ में अवस्थित नहीं है; हे अर्जुन! मेरे इस ईश्वरसम्बन्धी योग को देख; गी० ९-४,५)।

किञ्च–

समस्तेष्विति। समस्तेषु निरवशेषेषु प्रपञ्चात्मकेषु वस्तुषु सदात्मनाऽनुस्यूतमनुगतं सर्वतो व्याप्तमेकं हि नाना समस्तानि वस्तूनि प्रपञ्चात्मकानि यं सद्रूपं न स्पृशन्ति। कुतः? वियद्वदाकाशमिव सदा सर्वदा शुद्धं निर्मलं रागादिदोषरहितमच्छस्वरूपममृतरूपं यत्परं ब्रह्म, सोऽहमात्मेति संबन्धः। ११।

और भी–

समस्त प्रपञ्चस्वरूप वस्तुओं में जो (अपने) सत्स्वरूप से अनुगत अर्थात् सर्वतः व्याप्त है तथा जिस एक सद्रूप को नाना समस्त प्रपञ्चात्मक वस्तुएं नहीं छू पातीं। क्यों? (क्योंकि वह) आकाश के समान सदा शुद्ध अर्थात् रागादि दोषों से रहित निर्मल तथा अमृतरूप परब्रह्म है, ऐसा जो आत्मा है, वह मैं हूँ; ऐसा सम्बन्ध है। ११।

उपाधौ यथा भेदता सन्मणीनां तथा भेदता बुद्धिभेदेषु तेऽपि।
यथा चन्द्रिकाणां जले चञ्चलत्वं तथा चञ्चलत्वं तवापीह विष्णो। १२।

(आत्मा में भेद तथा चाञ्चल्य की प्रतीति का कारण)

जिस प्रकार उपाधि में भेद शुद्ध मणियों का (भेद प्रतीत होता है), उसी प्रकार बुद्धियों के भेद में तुम्हारा भी भेद प्रतीत होता है। जिस प्रकार (चलायमान) जल में (प्रतिविम्वित होने वाले) चन्द्रों की चञ्चलता होती है, हे विष्णु! उसी प्रकार आपकी भी इन (वुद्धियों) में (प्रतिविम्वित होकर) चञ्चलता है (अर्थात् आपकी चञ्चलता पारमार्थिक नहीं, अपितु औपाधिक ही है)। १२।

इस प्रकार का साक्षात्कार हो जाने के उपरान्त व्यक्ति को इसी जीवन में विष्णु अर्थात् सर्वत्र व्याप्त एवं प्रविष्ट परमात्मा के परम पद की प्राप्ति हो जाती है, जिसका माहात्म्य वेद, उपनिषद् आदि समस्त ग्रन्थों में गाया गया है। ऋग्वेद के ऋषियों का कथन है–'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्' (साक्षात्कार-सम्पन्न विद्वज्जन विष्णु के उस परमपद का सदा दर्शन करते रहते हैं, जिस प्रकार हम सामान्य जनों के चक्षु दिन के प्रकाश में वाहर विखरी हुई सांसारिक वस्तुओं को देखते रहते हैं)। उपनिषद् भी यही कहते हैं–'यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते। विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (जो इस प्रकार के साक्षात्कार से युक्त होता है, योगयुक्त मन वाला होता है तथा अन्दर व वाहर से सर्वदा शुद्ध होता है; वह तो उस पद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं होता। जो विवेकबुद्धिरूपी सारथि से युक्त तथा इन्द्रियरूपी घोड़ों पर मनरूपी लगाम को अपने अधीन रखने वाला होता है, वह संसारमार्ग के उस पार को प्राप्त कर लेता है, वही विष्णु का परम पद है; काठकोपनिषद् १-३-८,९)। यही सुख-दुःखादि समस्त सांसारिक द्वन्द्वों से मोक्ष है, संसार का उपराम है, भगवत्साक्षात्कार है तथा इस दुर्लभ मानव जीवन का एकमात्र चरम लक्ष्य है; अतः प्रत्येक मानव का यह कर्तव्य है कि वह इस प्रकार के परम पद का अन्वेषण करे तथा उसे प्राप्त करे–'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः' (उस पद का अन्वेषण करना चाहिये, जहाँ जा कर लौटना नहीं पड़ता; गी० १५-४)। इसी परमपद का साक्षात्कार कराना ही वेदादि समस्त अध्यात्मशास्त्रों का चरम लक्ष्य है।

व्युत्पादितमर्थमुपसंहरति–
उपाधौ सत्युपाधिभेदसम्बन्धे सति यथा भेदता, भेद एव भेदता, स्वार्थे

(प्रमाणतः) सिद्ध अर्थ का उपसंहार करते हैं–

जिस प्रकार उपाधि होने पर अर्थात् उपाधिभेद के साथ सम्बन्ध होने पर स्फटिकादि विशुद्ध मणियों का रक्त-कृष्णादि (उपाधियों) के भेद से भेद हो जाता है। भेदता में तल्प्रत्यय

तल्, सन्मणीनां विशुद्धमणीनां स्फटिकादीनां लोहितकृष्णादिभेदेन भेदता भेदः। तथा बुद्धिभेदेषु नानाबुद्धिषु ते तवापि नानात्वम्, हे विष्णो! परमार्थतस्तु तव भेदो नास्त्येव, बुद्ध्युपाधिकृतस्तु विद्यत इत्यर्थः। यथा चन्द्रिकाणाम्, चन्द्रा एव चन्द्रिकाः, स्वार्थे कप्रत्ययः, निर्मलितानां जले प्रतिबिम्बितस्वरूपेण दृश्यमानानां जलस्य चञ्चलत्वाच्चञ्चलत्वमौपाधिकम्, न पारमार्थिकम्; तथा बुद्धीनां चञ्चलत्वात्तवापि चञ्चलत्वमौपाधिकम्, न पारमार्थिकमित्यर्थः। इह बुद्धिषु, हे विष्णो! व्यापनशील!। १२।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ हस्तामलकीयभाष्यं सम्पूर्णम्।

स्वार्थ में ही हुआ है (भाव में नहीं)। उसी प्रकार, हे विष्णु (व्यापनशील)! नाना बुद्धियों में तुम्हारा भी नानात्व (प्रतिभासित होता है)। परमार्थतः तो तुम्हारा भेद है ही नहीं, हाँ, बुद्धिरूप उपाधि द्वारा कृत (भेद) तो है; यह अर्थ है। चन्द्र को ही चन्द्रिका कहते हैं, स्वार्थ में ही कप्रत्यय हुआ है। जिस प्रकार निर्मल जल में प्रतिविम्वित रूप से दिखायी देने वाले चन्द्रमाओं की औपाधिक चञ्चलता (उपाधिरूप) जल की चञ्चलता के कारण है, पारमार्थिक नहीं। इसी प्रकार बुद्धियों की चञ्चलता के कारण (प्रतीत होने वाली) तुम्हारी चञ्चलता भी औपाधिक (बुद्धिरूप उपाधि द्वारा कृत) है, पारमार्थिक (वास्तविक) नहीं; यह अर्थ है। 'इह' अर्थात् इन बुद्धियों में। हे विष्णो! हे व्यापनशील!। १२।

इति विष्णुं प्रणम्याहं वेद-वेदान्तगोचरम्।
टीकामिमां तदीयेषु चरणेषु समर्पये।।

इति सिद्धार्थकृष्णेन विरचिता सभाष्य-हस्तामलकीयस्य
तत्त्वदीपिकाख्या सानुवाद-व्याख्या सम्पूर्णतां गता।

हरिः ॐ तत्सत्

ॐ परब्रह्मार्पणमस्तु ॐ

परिशिष्टम्

ॐ

प्रथमं परिशिष्टम्

हस्तामलकीयश्लोकानुक्रमणिका

द्वितीयं परिशिष्टम्

मूलस्थ-विशिष्ट-पदानुक्रमणिका

तृतीयं परिशिष्टम्

भाष्यस्थ-विशिष्ट-पदानुक्रमणिका